निजध्रुवशुद्धात्मानुभव

(प्रत्यक्ष प्रामाण्यसहित)

चार्ट क्र. १४

निजध्रुवचिदानंदात्मा को जानने की पद्धति

'यह' मैं ध्रुवचिदानंदात्मा हूँ	यहाँ 'यह' (इदन्ता) की प्रतीति है, इसलिये यह 'प्रत्यक्षज्ञान' है, यह शुद्धात्मानुभव है, निर्विकल्पज्ञान है ।
'वह' मैं ध्रुवचिदानंदात्मा था	यहाँ 'वह' (तत्ता) की प्रतीति है, इसलिये यह 'स्मरणज्ञान' है, परोक्षज्ञान है, यह सुद्धात्मानुभव नहीं ।
जो मैं पूर्व में ध्रुवचिदानंदात्मा था वह यह ध्रुवचिदानंदात्मा हूँ ।	यहाँ 'वह + यह' के संकलन (इदन्ता और तत्ता के संकलन) की प्रतीती है, इसलिये यह 'प्रत्यभिज्ञान' है, परोक्षज्ञान है, शुद्धात्मानुभव नहीं ।
जो जो जीव है वह वह ध्रुवचिदानंदात्मा है ।	यहाँ 'जो जो वह + वह' रुप व्याप्रि की प्रतीती है, इसलिये यह 'तर्कज्ञान' है, यह परोक्षज्ञान है, शुद्धात्मानुभव नहीं ।
मैं ध्रुवचिदानंदात्मा हूँ क्योंकि यह पर्याय है । - साध्य साधन	यहाँ 'साधन के द्वारा साध्य की प्रतीति है' इसलिये 'अनुमानज्ञान' है, यह परोक्षज्ञान है, शुद्धात्मानुभव नहीं ।
मैं ध्रुवचिदानंदात्मा हूँ	यहाँ 'अन्तर्जल्प' रुप प्रतीति है, इसलिये यह 'नयज्ञान' है, परोक्षज्ञान है, शुद्धात्मानुभव नही ।

पर्याय को जानने की पद्धति

'यह' मैं दुःखी हूँ	यहाँ 'यह' (इदन्ता) की प्रतीति है, इसलिये यह 'प्रत्यक्षज्ञान' है ।
'वह' मैं दुःखी था	यहाँ 'वह' (तत्ता) की प्रतीति है, इसलिये वह 'स्मरणज्ञान' है, परोक्षज्ञान है ।
जो मैं पूर्व मैं दुःखी था वह यह दुःखी हूँ ।	यहाँ 'वह + यह' के संकलन (इदन्ता और तत्ता के संकलन) की प्रतीती है, इसलिये यह प्रत्यभिज्ञान' है, परोक्षज्ञान है ।
जो जो जीव शल्यसहित होताहै वह वह दुःखी होता है ।	यहाँ 'जो जो वह + वह रुप व्याप्ति की प्रतीती है, इसलिये यह 'तर्कज्ञान' है, यह परोक्षज्ञान है ।
मैं दुःखी हूँ क्योंकि मेरे हृदय में शल्य है । साध्य साधन	यहाँ 'साधन के द्वारा साध्य कीं प्रतीति है' इसलिये 'अनुमानज्ञान' है, यह परोक्षज्ञान है ।
मैं दुःखी हूँ	यहाँ 'अ्तरजल्प' रुप प्रतीति है, इसलिये यह 'नयज्ञान' है, परोक्षज्ञान है ।

ॐ

सम्यग्दर्शन के निर्णय में शुद्धात्मानुभूते का संबध

अपरनाम

अविरत सम्यक्त्वी के शुद्धात्मानुभूति की सप्रमाण सिद्धि

(चारों अनुयोगों के आधार पर संकलन)

संकलनकर्त्ता

प.पू.अध्यात्मयोगी स्व.श्री१०८वीरसागरजी महाराज

की पावन स्मृति में विनम्र श्रद्धांजली - १०.३.०७

जन्म - ५ मई १९४८ - अकलूज, यम सल्लेखना - १० मार्च १९९३-कुंथलगिरि

प्रकाशन - ५ वीं आवृत्ति -प्रतियाँ १०००, वीर नि. संवत् २५३३, ई. स.२००७

प्रकाशक, प्राप्ति स्थान - संपादिका धर्ममंगल - प्रा.सौ. लीलावती जैन, १ सलील अपार्ट.,

५७, सानेवाडी , औंध-पुण 411 007. फोन - 020- 2588 7793

भाव सुमनांजली

प्रा. सौ. लीलावती जैन

प.पू. अध्यात्मयोगी १०८ श्री वीरसागर महाराज जी के चरणों में त्रिवार नमोऽस्तु ! १० मार्च को महाराज जी की १४ वीं पुण्यतिथी आती है। इस अवसर पर उनकी पावन स्मृति में **'निजध्रुवशुद्धात्मानुभव'** यह छोटीसी पुस्तक आपके हाथ में देते हुए हम आनंद का अनुभव कर रहे हैं। इस पुस्तक की ४ आवृत्तियाँ - ४००० पुस्तकें सोलापुर से पहले वितरीत हो चुकी है। परंतु माँग बढ़ने के कारण यह ५ वीं आवृत्ति (प्रतियाँ १०००) निकाल रहे हैं। इन दिनों कुछ विद्वानों एवं मुनिराजों में यह चर्चा का विषय चल रहा है कि - अविरत सम्यक्त्वी के (गृहस्थ के) शुद्धात्मानुभूति (चतुर्थ गुणस्थान में) नहीं होती। पू. वीरसागर जी मुनिराज ने इस विषय को लेकर कई शास्त्रों के गहरे अध्ययनपूर्वक अनेकों प्रमाण प्रस्तुत किये और प्रत्यक्ष प्रामाण्यसहित सिद्ध कर दिया कि अविरत सम्यक्त्वी के शुद्धोपयोग होता है। यह उन्हीं प्रमाणों का संकलन है जो इस विषय को लेकर सारे सम्भ्रम दूर कर सकता है। इसके पहले 'सम्यक् सम्यक्त्व चर्चा'- ब्र. हेमचंद जी जैन 'हेम'-भोपाल द्वारा प्रस्तुत एक छोटीसी पुस्तक हमने अनेकों विद्वानों एवं मुनिराजों को भेजी है। इस में भी इस विषय को लेकर कुछ प्रमाण प्रस्तुत किये थे। इस पुस्तिका के प्रकाशन के पश्चात् इस **'निजशुद्धात्मानुभव'** पुस्तक की माँग बढ़ गयी। अतःयह छोटीसी पुस्तक हम आपको, अनेका मुनिराजा एवं विद्वानों को भेज रहे हैं। आशा है आप अपने अभिप्राय से अवगत करायेंगे। स्वयं पढ़ेंगे और अन्यों को पढ़ने के लिए देंगे।

पू. वीरसागर जी महाराज की १४ वीं पुण्यतिथी के पावन अवसर पर उनके उपदेशित विषय को आप जैसे मर्मज्ञों के हाथों तक पहुँचाना ही उनको सच्ची श्रद्धांजली है।अन्य सभी मुनिराजों, विद्वान पंडितों के प्रति अत्यंत आदर भाव रखते हुए हम विनम्र निवेदन कहना चाहते हैं कि 'आगम के आलोक में'आप इस विषय को देखें और परखें। भाव किसी के अविनय का नहीं है।

पंचम काल के इस विनाशकारी तुफान में हम अपने पावन आत्मधर्म की नाव की पतवार पूरी क्षमता के साथ सम्भाले, स्वयं मिथ्या धर्म से बचें, औरों को भी बचने में निमित्त बनें। ऐसी स्थिति में ऐसी छोटी परंतु दीपस्तंभ जैसी मार्गदर्शक पुस्तकें ही हमारे लिए पथप्रदर्शक सिद्ध होंगी।...

इसी आशा के साथ - संपादिका , धर्ममंगल, औंध -पुणे

दो शब्द

इस लघु पुस्तिका में स्व. श्री वीरसागरजी महाराज ने जैन आगम के महासागर में से मंथन करके गागर में मोती भरने का महान स्तुत्य कार्य किया है। उन्होंने श्री समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, आप्तमीमांसा, अष्टसहस्री, पंचास्तिकाय, बृहद् द्रव्यसंग्रह, ज्ञानार्णव, महापुराण, तत्त्वानुशासन, सर्वार्थसिद्धि, धवल, जयधवल,श्लोक कार्तिक, न्याय कुमुदचन्द्र, प्रमेय कमल मार्तण्ड, इष्टोपदेश, परमानंद स्तोत्र, जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश, मोक्षपाहुड, भाव संग्रह, नयचक्रादि लगभग २५ ग्रन्थों और उनकी टीकाओं के आधार से सप्रमाण यह सिद्ध करने का सक्षम सफल प्रयत्न किया है कि अविरती गृहस्थ को भी वीतराग शुद्धोपयोगरूप आत्मानुभव-निश्चय सम्यग्दर्शन होता है।

स्व. श्री वीरसागरजी मुनिराज द्वारा लिखी अध्यात्मन्यदीपिका की विशाल टीका में एवं श्री समयसार की श्री जयसेनाचार्यजी की तात्पर्यवृत्ति टीका के संपादन-अनुवाद ग्रन्थ में भी अनेक स्थानों पर सप्रमाण गृहस्थ के शुद्धोपयोग-आत्मानुभूति-निश्चय सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान में होता हैं ऐसा लिखा है। उक्त दोनों ग्रन्थ सोलापूर से प्रकाशित हैं जो आज भी उपलब्ध है।

उन्होंने यह भी विशेष कथन किया है कि अनंत गुणों के अभेद-पिण्ड, एक, अखण्ड, नित्य, ज्ञायक, चैतन्य, परिपूर्ण, सामान्य, एकत्व-विभक्त, निज-ध्रुव-शुद्ध, ज्ञान-दर्शन-आनंद सहित आत्मा का प्रत्यक्ष प्रामाण्य सहित अनुभव अतींद्रिय मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में इस काल में आज भी गृहस्थ कर सकता है। उनके अनुसार निज-ध्रुव-शुद्ध आत्मा जो अनुभूतिरूप प्रत्यक्ष प्रमाणज्ञान पर्याय का विषय है वह कारण परमात्मा पारिणामिक भाव त्रैकालिक ध्रुव सामान्य ध्रुव विशेषात्मक और भाव-अभाव रूप है।

इस वीसवीं सदी में आविष्कृत सम्यग्दर्शनमय स्वात्मानुभूति की कला को श्री वीरसागरजी मुनिराज ने अपनी विशिष्ट ध्यान पद्धति की साधना द्वारा मुमुक्षु समाज को सत्य अतींद्रिय आनन्द प्राप्त करना अत्यधिक सहज और सुलभ कर दिया है।

श्री वीरसागरजी मुनिराज आज के युग में होनेवाले दिगम्बर जैन भावलिंगी संतों में से एक मुनि थे। उनका सम्पूर्ण कथन एवं उनकी सम्पूर्ण

चर्या पूर्णतः आगम अनुकूल निर्दोष और सर्व प्रकार से प्रशस्त थी ! उन्होने यम सल्लेखनापूर्वक समाधि मरण धारण किया था ।

विद्वत्‌जगत को उनके इस महान प्रयास की मुक्त कण्ठ से सराहना करनी चाहिये और आगम विरुद्ध कथन करने से लेखन से यथा संभव बचने का प्रयास करना चाहिये ।

कहा भी है -

तूं थाप निजको मोक्ष पथ में, ध्या अनुभव तूं उसे ।
उसमें ही नित्य विहारकर, न विहारकर पर द्रव्य में ॥

॥ स.सा.गा. ४१२ ॥

- मन्नूलाल जैन
वकील
सागर (मध्य प्रदेश)

सोलापूर
२७.९.९६

इस पुस्तक के प्रकाशन में अर्थ सहयोग देने वाले दातार

(१) श्री सहजात्मस्वरूप परमगुरु ट्रस्ट - अहमदाबाद	६००० रु.
(२) श्री अजित सुभाष शहा - सोलापुर	६००० रु.
(३) कल्पवृक्ष स्वाध्याय मंडल - पुणे	२००० रु.
(४) श्रीमती प्रभा लोहाडे - पुणे	१००० रु.
(५) श्रीमती मंजुला बाकलीवाल - कोटा	१००० रु.

- दातारों का हार्दिक आभार - संपादिका

इस पुस्तक की छपाई में गाथा-श्लोक आदि में जो भी अशुद्धियाँ रह गयीं हैं वे हमारी गलती से हुई हैं, अतः क्षमा चाहते हैं । पाठकों से निवेदन है कि वे कृपया सुधार कर पढ़ें और उन गलतियों से हमें भी अवगत करावें।

-संपादिका

प्राक् कथन -

अध्यात्म योगी परमपूज्य श्री १०८ वीरसागर मुनि महाराजजी का प्रतिदिन समयसार, श्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री आदि ग्रंथों का सूक्ष्म वाचन प्रवचन चलता था।

प्रवचन में किसी मुमुक्षु श्रावक ने प्रश्न किया कि चतुर्थ गुणस्थान में आत्मानुभूति-शुद्धोपयोग या निश्चय सम्यक्त्व होता है या नहीं ? इस विषय में आगम प्रमाण वचनों की संकलनात्मक एक संक्षिप्त पुस्तक प्रकाशित होना नितांत आवश्यक है। ऐसी बार-बार प्रार्थना करने पर पूज्य महाराजजी द्वारा इस संकलनात्मक ग्रंथ को तैयार किया गया जिसका यह चतुर्थ संस्करण प्रकाशित हो रहा है।

इस पुस्तक में चारों अनुयोग के शास्त्रों का प्रमाण देकर प्रस्तुत विषय पर समीचीन यथार्थ प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है।

समयसार ग्रंथ केवल मुनियों के लिये ही उपयोगी है, ऐसा नहीं है। इस में परसमयरत-अप्रतिबुद्ध अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि को स्वसमयरत-प्रतिबुद्ध ज्ञानी-सम्यग्दृष्टि बनने का उपाय बतलाया है। इसलिये यह ग्रंथ प्रत्येक मुमुक्षु भव्य जीव के लिये, चाहे वह मुनि हो या श्रावक हो, सब के लिये दिव्य जीवनदृष्टि देनेवाला अपूर्व आध्यात्मिक ग्रंथ है।

'समयसार' अध्यात्म ग्रंथ होने से इस में गुणस्थानकृत भेद विवक्षा न रखकर ज्ञानी-अज्ञानी, स्वसमय-परसमय, सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि, प्रतिबुद्ध-अप्रतिबुद्ध इस प्रकार मुख्यता से दो विवक्षाओं को लेकर ही कथन किया गया है।

'रागी सम्यग्दृष्टिः न भवति' जिस को अणुमात्र भी राग है, अर्थात् राग में आत्मत्वबुद्धि-एकत्वबुद्धि है वह अज्ञानी है। सम्यग्दृष्टि नहीं है, ऐसा

कहकर अज्ञानपूर्वक होनेवाले राग को ही कर्मबंध का अनंत संसार का कारण माना गया है ।

' रागी सम्यग्दृष्टिः न भवति ' इस विधान पर शंका उपस्थित की गई है कि यदि रागी सम्यग्दृष्टि नहीं है, तो क्या भरत-पांडवादिक सम्यग्दृष्टि नहीं थे ?

इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य कहते हैं कि वे सरागी होकर भी सम्यग्दृष्टि थे ।

फिर से प्रश्न उठाया गया कि वे रागी होकर सम्यग्दृष्टि कैसे थे?

इस के उत्तर में आचार्य कहते हैं कि- मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा उन को मिथ्यात्व व अनंतानुबंधी जनित रागादि का अभाव होने से वे भी ज्ञानी सम्यग्दृष्टि वीतरागी ही हैं ।

इसी प्रकार आचार्य से बार-बार वीतराग स्वसंवेदन का विधान करनेपर प्रश्न उठाया गया है कि -

स्वसंवेदन को बार-बार वीतराग विशेषण क्यों दिया जाता है ?क्या स्वसंवेदन दूसरे प्रकार का भी होता है ?

इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य कहते हैं -

१) जो विषय-कषाय के अनुरागपूर्वक स्वसंवेदन होता है वह सराग स्वसंवेदन अज्ञानी को होता है ।

२) जो भेद- ज्ञानपूर्वक आत्मस्वरूप का स्वसंवेदन होता है वह वीतराग स्वसंवेदन है और वह ज्ञानी सम्यग्दृष्टि को होता है ।

उन उपर्युक्त दोनों प्रश्नोत्तरों की चर्चा से आचार्य जयसेन ने भी चतुर्थ गुण-स्थानवर्ती सरागी सम्यग्दृष्टि को भी जघन्यरूप से वीतरागी-ज्ञानी-सम्यग्दृष्टि माना है ; तथा उनको वीतरागी स्वसंवेदन आत्मानुभूति स्वीकृत की गई है । सम्यग्दर्शन की प्राप्ति भेद ज्ञान-पूर्वक शुद्धोपयोग रूप आत्मानुभूति के विना होती नहीं, ऐसा स्पष्ट विधान किया गया है ।

' अयं अहं इति अनुभूतिः' 'यह मैं हूँ' इस प्रकार की स्वानुभूति

स्वसंवेदन तो सब अबाल-गोपाल प्राणीमात्र को निरंतर होती है; परंतु जिस स्वसंवेदन में-स्वानुभूति में पर के साथ एकत्वबुद्धि होती है वह अज्ञानमूलक होने से वह सराग स्वसंवेदन, सराग स्वानुभूति कही जाती है। वह अज्ञानी को होती है।

जिस संवेदन में-स्वानुभूति में भेदज्ञान पूर्वक आत्मस्वरूप का दर्शन, ज्ञान, अनुभव होता है वह सब चाहे वह सराग सम्यग्दृष्टि का हो या वीतराग सम्यग्दृष्टि का, वह सब वीतराग स्वसंवेदन ही आत्मानुभूति कही जाती है।

यद्यपि लोक व्यवहार में सोलह ताव देने पर ही सुवर्ण शुद्ध कहा जाता है; तथापि लौकिक शास्त्र में सोलह ताव देने के पूर्व में भी सुवर्ण परीक्षक सुवर्णकस के आधार से मलसहित अवस्था में भी मल से भिन्न पृथक् शुद्ध सुवर्ण का परिज्ञान-अनुभव कर सकता है।

उसी प्रकार वीतराग अवस्था में तो वीतरागी-संयमी मुनि को शुद्धात्मा की अनुभूति होती ही है ; परंतु सराग अवस्था में भी चतुर्थ गुणस्थानवर्ती भेदज्ञानी सराग सम्यग्दृष्टि भी अपने वीतरागी (राग से भिन पृथक्) शुद्ध आत्मा की अनुभूति भेदविज्ञान के आधार पर कर सकता है। यही समयसार अध्यात्म ग्रंथ का एक गूढ रहस्य है।

"एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक्।
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्माच् तावानयं
तन्मुक्त्वा नवतत्व संतति मिमात्मायमेकोस्तु नः ॥ ६ ॥"

शुद्धनय से एकत्व-विभक्त स्वभाव में सुनियत, सुव्यवस्थित, व्यापक पूर्ण ज्ञानघन जो कारणपरमात्मा है, उसका अन्य सब परद्रव्य और परभाव इन से पृथक् दर्शन-इसीको निश्चय सम्यग्दर्शन कहा है।

शुद्धोपयोग के विना अत्मोपलंभ होता नहीं। आत्मोपलंभ के विना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं। शुद्धात्मोपलंभ से ही संवर-निर्जरा होती है। (शुद्धात्मोपलंभात् एव संवर) चतुर्थगुणस्थान संवर-निर्जरा का प्रथम स्थान

करणानुयोग ग्रंथ में माना गया है ।

इसलिये चतुर्थ गुणस्थान में शुद्धोपयोग,आत्मानुभूति, निश्चय सम्यक्त्व-वीतराग- स्वसंवेदन आदि मानना आवश्यक है, यह बात स्पष्ट निर्विवाद सिद्ध हो जाती है ।

ज्ञानी के भोग-उपभोग निर्जरा के कारण हैं ऐसा विधान समयसार में किया गया है । वहाँ ज्ञानी का अर्थ केवल वीतराग-संयमी मान लिया जाये तो वीतरागी-संयमी मुनि को भोग-उपभोग के विधान का अनिष्ट प्रसंग आवेगा ।

इसलिये शास्त्र के विधान का यथोचित नयविवक्षावश समीचीन अर्थ *लगाना ही सम्यग्ज्ञान कहलाता है ।* तीर्थप्रवृत्ति निमित्त प्रयोजनवश ज्ञानी सम्यग्दृष्टि के व्रत-संयम तपादिक शुभोपयोग संवर-निर्जरा का कारण उपचार से- व्यवहारनय से कहा गया है ; परंतु ज्ञानी उन व्रतादिक शुभोपयोग को भी शुभराग मानकर बंध का ही कारण मानता है, संवर-निर्जरा का कारण नहीं समझता है । वह यथागुणस्थान आवश्यक कर्म अवश्य करता है; परंतु उस में उसकी उपादेय-बुद्धि इष्ट-बुद्धि नहीं रहती है । हेय-बुद्धि से वह तावत्काल अपवाद मार्ग समझकर असामर्थ्यवश धारण करता है । उसकी निरंतर-भावना-आत्मस्वभाव में स्थिर होने की ही रहती है । आत्मस्वभाव को वह सर्वथा उपादेय-इष्ट समझता है । ऐसे ज्ञानी के भोग-उपभोग या व्रतादिक सराग होने के कारण वास्तव में आस्रव बंध के कारण होते हुये भी उन में उसकी हेयबुद्धि होने से, उपादेय बुद्धि न होनेसे - भेदज्ञानपूर्वक आत्मोपलम्भपूर्वक समीचीन दृष्टि होने से, वे उपचार से व्यवहारनय से संवर-निर्जरा के कारण कहे जाते हैं, तीर्थ और तीर्थ प्रवृत्ति की ऐसी ही व्यवस्था मानी गई है । (इत्यलम् विस्तरेण)

पं. नरेन्द्रकुमार शास्त्री
न्यायतीर्थ, महामहिमोपाध्याय, सोलापूर

सोलापूर
वीर नि. सं. २५१३

विषय-सूची

शंका क्र.	विषय	आधार	पृष्ठ क्र.
१	क्या शुद्धोपयोग ४ थे गुणस्थान में होता है ?	समयसार टीका श्री जयसेनाचार्य गाथा २०१,२०२	१
२	क्या अविरती गृहस्थ को शुद्धात्मानुभव होता है ?	समयसार टीका जयसेनाचार्य गाथा ३२०, प्रवचनसार टीका श्री जयसेनाचार्य गाथा २०,३३	५
३	तत्वानुशासन के श्लोक क्र.४६ ४७ का क्या अर्थ है ?	श्री नागसेन मुनि	९
४	धर्मध्यान का क्या अर्थ है ?	का. अनुप्रेक्षा श्री स्वामी कार्तिकेय गाथा ४७१,४७२,४७३	९
५	भावसंग्रह की गाथा ३८१,३८२, ३८३ का क्या अर्थ है ?		१०
६	भाव संग्रह गाथा ३८३ का क्या अर्थ है ?	प्रवचनसार टीका श्री जयसेनाचार्य गाथा ८०	११
७	यदि सम्यक्त्वादि ४,५,६ वे गुणस्थानों का निर्णय बाह्य लक्षणों से कहें तो ?	धवल पु. १/१५२ पंचा.गाथा १६६ निय.गा. १४४ प्रव.गा. ७९ त.प्र. स.सा.गाथा १५२, र.क.श्रा. श्लोक ३३,१०२	१२

८	प्रत्येक अंतर्मुहूर्त में शुभ और अशुभ उपयोग होता है।-	प्रवचनसा. गाथा- ९,२४८,	१८
		बृहद् द्रव्यसंग्रह-गाथा ३४,	२१
		कार्तिकेयअनुप्रेक्षा-गाथा ४७०,	
		महापुराण श्लोक-३८,४४/२१	
९	शुद्धभावना का क्या अर्थ है?	प्रवचनसार गाथा-२४८,	२२
		बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा-२८	
१०	शुद्धात्मानुभव-	प्रवचनसार गाथा-२५४ तात्पर्यवृत्ति	२३
११	वीतराग स्वसंवेदन-	समयसार तात्पर्यवृत्ति गाथा-९६	२४
१२	धर्म्यध्यान	ज्ञानार्णव-४/१७	२५
१३	अनुभूति की समानता	ज्ञानार्णव- २९/४५, १०४,	२६
		महापुराण २१/११,	
		प्रवचनसार गाथा-१८१,	
		स.सत्या-गाथा १८६,	
१४	गृहस्थ को अनुभूति होती है।-	सर्वार्थ सिद्धि-गाथा-९/२९	३०
		महापुराण २१/२१, ७५,	
		समयसार गाथा-११,	
१५	सम्यक्त्व देवगति का कारण क्यों कहा?	तत्त्वार्थसूत्र ६/२१	३२
१६	अविरत सम्यक्त्वी को सवर होता ह ?	बृ.द्र.संग्रह गाथा ३५ टीका,	३३
		प्रवचनसार गाथा ९ टीका ता.वृ.	
१७	अविरत को आत्मानुभव कैसा होता है?	तत्त्वानुशासन श्लोक ५४, ५८, ६३, ६४, ६५	३६
१८	४ थे, ५ वें, ७ वें गुणस्थान के अनुभव में क्या अंतर होता है?	तत्त्वानुशासन श्लोक ४९,	३७
		प्रमेय कमल मार्तंड २/१२/२४५	
१९	शुद्धोपयोग कैसा है?	प्रवचनसार गाथा १४	३८

२०	४ थे गुणस्थान में आत्मानुभव मानेंगे तो कोई व्रती नहीं होगा ?	इष्टोपदेश श्लोक ३७	३९
२१	धर्म्यध्यान, शुक्लध्यान -	धवला पुस्तक १३/७४	४०
	तीन प्रकार के सम्यग्दर्शन में क्या अंतर है?		४१
२२	सकलादेशी-विकलादेशी-	अष्टसहस्री ३/२११,२१२, परमानंद स्तोत्र -१०, प्र.सा. गाथा १९१, नि.सार गाथा ९६, क. ३४,२५,२६,५८	४२
२३	शुद्धत्व का पक्ष -	समयसार १४२, जैन सिद्धांत कोश२/५६५, नयचक्र देवसेनाचार्य, समयसार कलश १२२, समयसार गाथा १७३ से १७६, समयसार१७७, १७८, ता.वृ.	४६
२४	जघन्य आत्मभावना गृहस्थ को होती है ?	मोक्षपाहुड २/३०५	५०
२५	गृहस्थ को ध्यान होता है-	भावसंग्रह ३७१,३९७,६०५	५०
२६	धर्म्यध्यान-शुक्लध्यान	भावपाहुड से ८१/२३२/२४, द्रव्यसंग्रह गाथा ३४, प्रवचनसार गाथा १८१	५१
२७	संदृष्टि कोष्टक	आप्तमीमांसा १०८	५३
२८	स्वात्मानुभव	क्षु. धर्मदासजी	५७

चार्ट नं. ५

ज्ञान के प्रामाण्य की ज्ञप्ती

अभ्यस्त में स्वतः (अर्थात उस ही क्षणमें) होती है।

अनभ्यस्त में परतः (अर्थात उस ही क्षण से अन्य क्षणमें) होती है।

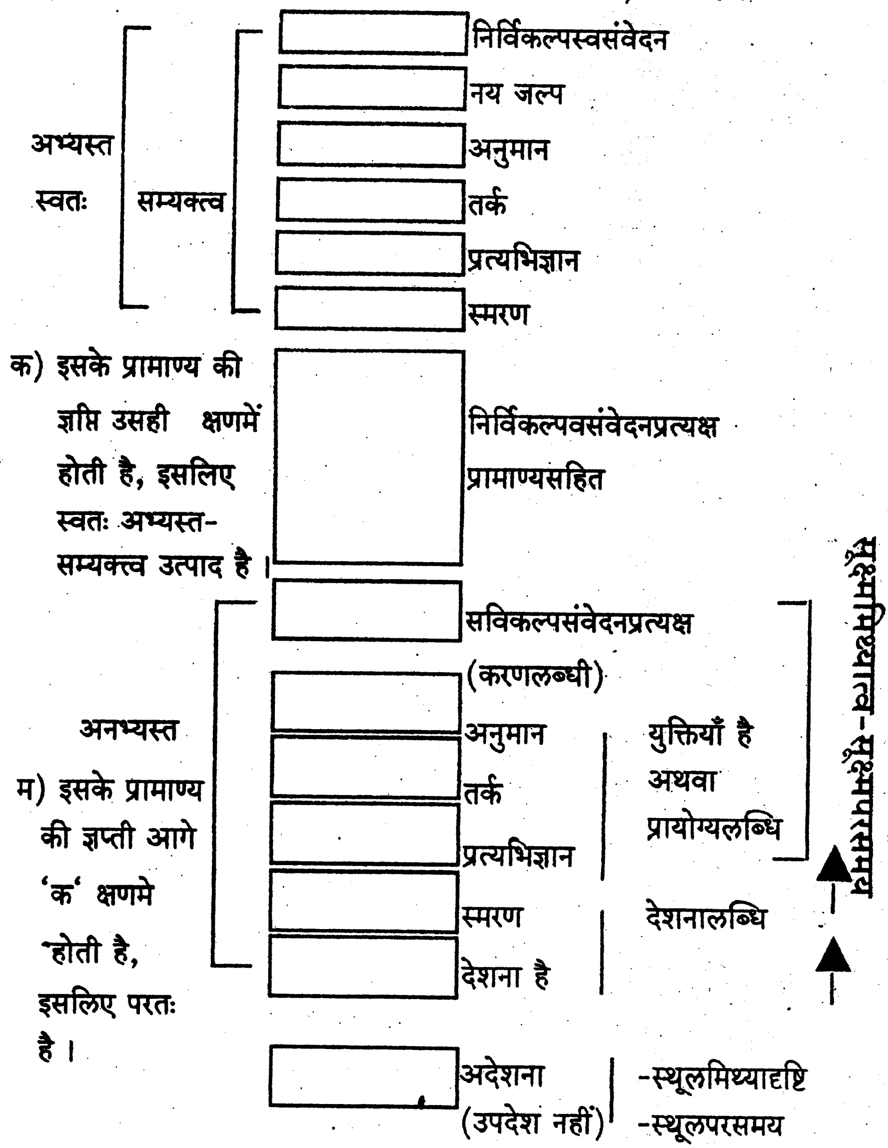

ॐ

सम्यग्दर्शन और आत्मानुभूति

शुद्धोपयोग से ही (शुद्धात्मानुभूति से ही) चतुर्थ गुणस्थान (अविरत सम्यग्दृष्टी गुणस्थान) प्रकट होता है।

१) **शंका** - क्या शुद्धात्मानुभूति से ही चतुर्थ गुणस्थान प्रकट होता है ? क्या शुद्धोपयोग से ही चतुर्थ गुणस्थान प्रकट होता है ? शुभोपयोग से चतुर्थ गुणस्थान क्यों प्रकट नहीं होता ?

उत्तर : समयसार गाथा नं. २०१ और २०२ की तात्पर्यवृत्ति में श्री जयसेनाचार्य कहते हैं कि- निर्विकल्प स्वानुभूति से चतुर्थादि गुणस्थान प्रकट होते हैं।

परमाणुमित्तयं पि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि ।। २०१ ।।
अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो ।। २०२ ।।

(आ. ख्या.)

"रागी सम्यग्दृष्टिर्न भवतीति भणितं"

रागी (मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी जनित राग करनेवाला) जीव सम्यग्दृष्टि नहीं होता है, ऐसा कहते हैं।

परमाणुमित्तयं पि य रागादीणं तु विज्जदे जस्स-

" परमाणुमात्रमपि रागादीनां तु विद्यते यस्य हृदये हु स्फुटं "

परमाणुमात्र भी मिथ्यात्व अनंतानुबंधी जनित राग का सद्भाव जिसके हृदय में स्पष्ट है (अथवा ध्रुव-स्वभाव में यदि परमाणुमात्र भी राग माना जाय तो)

ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरोवि -

" स तु परमात्मतत्त्वज्ञानाभावात् शुद्धबुद्धैकस्वभावं परमात्मानं न जानाति, न अनुभवति।"

वह परमात्मतत्त्वज्ञान से रहित होने से शुद्धबुद्ध एक स्वभावमय परमात्मा को जानता नहीं याने अनुभवन करता नहीं।

शंका - "कथंभूतोऽपि ?" कैसा होते हुए भी वह अनुभवता नहीं ?

उत्तर - " सर्वागमधरोऽपि-सिद्धांतसिंधुपारगोऽपि ।"

सर्व आगम का पाठी होता हुआ भी वह निजशुद्धात्मा को जानता नहीं अर्थात् अनुभवता नहीं।

अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो-

" स्वसंवेदनज्ञानबलेन सहजानंदैकस्वभावं शुद्धात्मानमजानन् तथैवाभावयंश्च शुद्धात्मनो भिन्नं रागादिरूपं अनात्मानं च अजानन्"

स्वसंवेदनज्ञानबल से (स्वशुद्धात्मानुभूति से) सहजानंद एक स्वभावमय शुद्धात्मा को न जाननेवाला तथा उसी प्रकार न अनुभवनेवाला और शुद्धात्मा से (स्वस्वभाव से) भिन्न रागादिरूप अनात्मा को न जाननेवाला।

कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो -

"स पुरुषो जीवाजीवस्वरूपं अजानन् सन् कथं भवति सम्यग्दृष्टिः ?"

वह पुरुष जीवस्वभाव और अजीवस्वभाव को न जाननेवाला होने से कैसे सम्यग्दृष्टि हो सकता है ?

"न कथमपि इति।"

वस्तुस्वरूपको न जाननेवाला किसी भी प्रकार से सम्यग्दृष्टि

(स्वशुद्धात्मानुभूतिवाला) नहीं होता है (याने शुद्धात्मानुभूति करनेवाला ही सम्यग्दृष्टि होता है)।

"किंच रागी सम्यग्दृष्टिर्न भवतीति भणितं भवद्भिः तर्हि चतुर्थपंचमगुणस्थानवर्तिनः तीर्थंकरकुमारभरतसगररामपांडवादयः सम्यग्दृष्टयः न भवन्ति इति ?"

यदि रागी जीव सम्यग्दृष्टि (शुद्धात्मानुभूतिवाले) नहीं होते हैं ऐसा कहते हो, तो क्या चतुर्थ पंचमगुणस्थानवर्ती तीर्थंकर, भरत, सगर, राम और पांडव, कुमार अवस्था में सम्यग्दृष्टि याने शुद्धात्मानुभूतिवाले नहीं होते हैं ?

"तन्न ।"

चतुर्थ पंचमगुणस्थानवर्ती तीर्थंकर, भरत, सगर, राम और पांडव, कुमार अवस्था में सम्यग्दृष्टि (शुद्धात्मानुभूतिवाले) नहीं थे, ऐसा नहीं है। अर्थात् चतुर्थ पंचम गुणस्थानवाले जीव सम्यंग्दृष्टि (शुद्धात्मानुभूतिवाले) हैं। क्योंकि-

"मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीनां बंधाभावात् सराग सम्यग्दृष्टयः भवन्ति।"

मिथ्यादृष्टि की अपेक्षासे ४३ प्रकृतियों के बंध का अभाव होने से सरागसम्यग्दृष्टि (अविरत सम्यक्त्वी-चतुर्थगुणस्थानवाले) होते हैं।

"कथं ? इति चेत् ?"

प्रश्न - चतुर्थ पंचमगुणस्थानवाले सरागी होते हुए भी सम्यग्दृष्टि (शुद्धात्मानुभूतिवाले) कैसे हैं ?

"चतुर्थगुणस्थानवर्तिनां जीवानां अनंतानुबंधिक्रोधमानमायालोभ मिथ्यात्वोदयजनितानां पाषाणरेखादिसमानानां रागादीनां अभावात्।"

उत्तर - चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीवों को अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ मिथ्यात्व के उदय में होनेवाले पाषाण रेखादि समान रागादि का अभाव होने से चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव सम्यग्दृष्टि (शुद्धात्मानुभूतिवाले) होते हैं।

"पंचमगुणस्थानवर्तीनां पुनर्जीवानां, अप्रत्याख्यान क्रोधमानमायालोभोदय जनितानां, भूमिरेखादि समानानां रागादिनां अभावात्।"

पुनः पंचमगुणस्थानवर्ती जीवोंको अप्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ

के उदय में होनेवाले भूमि रेखादि समान रागादि का अभाव होने से पंचमगुणस्थानवर्ती जीव सम्यग्दृष्टि (शुद्धात्मानुभूतिवाले) होते हैं।

"इति पूर्वमेव भणितमास्ते।"

ऐसा पहले भी कह दिया है।

"अत्र तु ग्रंथे पंचमगुणस्थानादुपरितनगुणस्थानवर्तिनां वीतराग सम्यग्दृष्टीनां मुख्यवृत्त्या ग्रहणं। सरागसम्यग्दृष्टीनां गौणवृत्त्या इति व्याख्यानं। सम्यग्दृष्टिव्याख्यानकाले सर्वत्र तात्पर्येण ज्ञातव्यम्।"

इस ग्रंथ में पंचमगुणस्थान से उपर के गुणस्थानवर्तीयों को, वीतराग सम्यग्दृष्टियों को मुख्यवृत्ति से और सरागसम्यग्दृष्टियों को (चतुर्थगुणस्थान वालोंको) जघन्य से (अल्पस्थिरतावाली) शुद्धात्मानुभूति होने से ग्रहण करना। इस तरह सम्यग्दृष्टि के व्याख्यानकाल में सर्वत्र जानना योग्य है।

इस प्रकार शुद्धात्मानुभूति चतुर्थगुणस्थानवाले जीव को होती है यह सिद्ध होता है।

टीप - १ श्री अमृतचन्द्राचार्य समयसार गाथा नं १३ की टीका में लिखते हैं - **" या तु आत्मानुभूतिः सा आत्मख्यातिरेवात्मख्यातिस्तु सम्यग्दर्शनमेव इति समस्तमेव निरवद्यम्।"**

अर्थ - जो यह आत्मानुभूति है वह आत्मख्याति ही है, और वही आत्मख्याति सम्यग्दर्शन ही है। ऐसा समस्त कथन निर्दोष ही है।

समयसारमें और भी कहा है - आत्मख्याति गाथा नं १९

" कम्मे णोकम्मम्हि य......"

इस गाथाकी जयसेनाचार्यजी कृत टीका में -

"अपडिवुद्धो अप्रतिबुद्ध : स्वसंवित्तिशून्यः बहिरात्मा हवदि भवति।"

अर्थ - अप्रतिबुद्ध, बहिरात्मा, स्वसंवित्तिशून्य ये एकार्थवाची हैं। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव बहिरात्मा नहीं कहा जाता है। इसलिए वह स्वसंवित्तिसहित ही है। इससे सिद्ध होता है कि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव शुद्धात्मानुभूति से सहित ही है। इसलिए शुद्धोपयोग से ही चतुर्थ गुणस्थान प्राप्त होता है; शभोपयोग शुभराग होने से शुभोपयोग से चतुर्थ गुणस्थान की प्राप्ति नहीं होती है।

गोम्मटसार जीवकांड कर्णाट्वृत्ति जीवतत्वप्रदीपिका टीका गाथा नं. १, पान नं. ३०, भाग १, में कहा है कि -

''न ह्यात्मतत्त्वोपलब्धिमन्तरेण सम्यक्त्वसिद्धिः ''

अर्थ-आत्मोपलब्धि के विना सम्यक्त्व की सिद्धि नहीं होती है।

२) शंका- प्रथमोपशम सम्यक्त्ववाले अथवा क्षयोपशम सम्यक्त्व वाले चतुर्थ गुणस्थानवर्ती (अविरतसम्यक्त्वी) को शुद्धोपयोग (शुद्धात्मानुभव निर्विकल्प अनुभव) होता है क्या ?

उत्तर - समयसार गाथा नं. ३२०

दिट्ठी जहेव णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव ।
जाणइ य बंधमोक्खं कम्मुदयं णिज्जरं चेव ॥३२०॥

(आ.ख्या.)

उसकी टीका तात्पर्यवृत्ति में श्री जयसेनाचार्यजी लिखते हैं कि -

''तस्य त्रयस्य मध्ये भव्यत्वलक्षणपरिणामिकस्य तु यथासंभवं सम्यक्त्वादिजीवगुणघातकं देशघातिसर्वघातिसंज्ञं मोहादिकर्मसामान्यं पर्यायार्थिकनयेन प्रच्छादकं भवति इति विज्ञेयं । तत्र च यदा कालादिलब्धिवशेन भव्यत्वशक्तेर्व्यक्तिर्भवति तदायं जीवः सहजशुद्ध पारिणामिकभावलक्षण निजपरमात्मद्रव्य सम्यक्श्रद्धान ज्ञानानुचरणपर्यायेण परिणमति ।''

अर्थ - उन तीनों में (याने जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व इन तीनों में) भव्यत्व लक्षणवाला पारिणामिकभाव का यथासंभव पर्यायार्थिकनय से **सम्यक्त्वादि जीव के गुणों का** घात करनेवाला द्रेशघाति सर्वघाति संज्ञावाला मोहादि कर्मसामान्य प्रच्छादक (आवरण करनेवाला) है, ऐसा जानना चाहिये ; और वहाँ जब कालादिलब्धि के वश से **भव्यत्वशक्ति** की व्यक्ति (प्रकट) होती है, तब यह सहजशुद्ध पारिणामिकभावलक्षण निजपरमात्मद्रव्य का सम्यक्श्रद्धान- ज्ञानानुचरण पर्याय से परिणमता है ।

आगमभाषा	अध्यात्मभाषा
" तच्च परिणमनमागमभाषयौपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकं भावत्रयं भण्यते ।"	**"अध्यात्मभाषया पुनः शुद्धात्माभिमुखपरिणामः शुद्धोपयोग इत्यादि पर्यायसंज्ञां लभते ।"**
और उस ही परिणमन को आगमभाषा से औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व इस प्रकार तीन भावरूप कहा जाता है ।	और उस ही परिणमन को अध्यात्म-भाषा से शुद्धात्माभिमुख परिणाम (याने जो चेतनोपयोग परमशुद्ध पारिणामिकभाव की ओर लक्ष्य देकर अथवा परमशुद्धपारिणामिकभाव को विषय बनाकर जो शुद्धात्मानुभव परिणाम प्रकट होता है) शुद्धोपयोग निर्विकल्प, स्वसंवेदन, समाधि, निश्चय सम्यक्त्व, अभेद रत्नत्रय इत्यादि नामों से (संज्ञाओं से) कहा जाता है।

इससे यह सिद्ध होता है कि प्रथमोपशम अविरत सम्यक्त्व की अथवा क्षयोपशम अविरत सम्यक्त्व की, क्षायिक अविरत सम्यक्त्व की प्राप्ति होना इसी को शुद्धोपयोग (शुद्धात्मानुभव) कहा है ।

इस विषय में प्रवचनसार गाथा क्र. ८० में कहा है कि -

"जो जाणदि अरहंतं दव्वत्त गुणत्त पज्जयत्तेहिं ।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥८०॥

- प्रवचनसार

अर्थ - जो अरहंत को द्रव्यपने, गुणपने और पर्यायपने के द्वारा जानता है वह अपने आत्मा को जानता है, उसका मोह अवश्य लय को प्राप्त होता है ।"

उसकी पातनिका में (शीर्षक में) श्री जयसेनाचार्यजी लिखते हैं कि-

"यदुक्तं शुद्धोपयोगाभावे मोहादिविनाशो न भवति, मोहादि विनाशाभावे शुद्धात्मलाभो न भवति, तदर्थमेवेदानीमुपायं समालोचयति।"

जो पूर्व में कहा है कि शुद्धोपयोग के अभाव में दर्शनमोहादि का विनाश नहीं होता है, और दर्शनमोहादि के विनाश के अभाव में शुद्धात्मलाभ नहीं होता , तो दर्शनमोह का नाश करनेके लिये उपाय बताते हैं। याने शुद्धोपयोग से ही दर्शनमोह का उपशमादि होता है (अनादि मिथ्यात्वी हो तो शुद्धोपयोग से प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है), शुद्धोपयोग और प्रथमोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति इनमें समयभेद नहीं है। यहाँ शुद्धोपयोग यह सहचर हेतु है, जैसे बिजोरा निंबू रसवान है क्योंकि रूपवान है।

अध्यात्मभाषा	**आगमभाषा** (गाथा ८० की टीका)		
१. **"निश्चयनयेन...निज शुद्धात्मभावनाभिमुखरूपेण सविकल्पस्वसंवेदनज्ञानेन ...आत्मनि योजयति।"** निश्चयनय से निजशुद्धात्मभावना अभिमुखरुप से सविकल्प स्वसंवेदन ज्ञान से आत्मा में योंजता है।	१. **"अधःप्रवृत्तिकरणापूर्वककरणानिवृत्तिकरणसंज्ञदर्शनमोहक्षपणसमर्थपरिणामविशेषबलेन ...आत्मनि योजयति।"** अधःकरण, अपूर्वकरण-अनिवृत्तिकरणवाले करण लब्धि में दर्शनमोह का अभाव करने के लिये समर्थ परिणाम विशेष बल से आत्मा में योजता है।	१ सातिशय मिथ्यात्व	१ अशुद्धोपयोग पंचाध्यायी अध्याय २ श्लोक ४०७, ४०१,४०९
२. **"तदनंतरमविकल्प स्वरूप प्राप्ते"** उस (करणत्रय के) अनंतर अविकल्प (निर्विकल्प) आत्मानुभूति प्राप्त होती है।	२. **"दर्शनमोहान्धकारः प्रलीयते"** दर्शनमोहान्धकार नष्ट करता है।	२ सम्यक्त्व	२ शुद्धोपयोग पंचाध्यायी अध्याय २ श्लोक ४६२

इस विषय में प्रवचनसार गाथा नं ३३ में कहा है कि -

जो हि सुदेण विजाणदि अप्पाणं जाणगं सहावेण ।

तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोगप्पदीवयरा ।।३३।।

इस की टीका में श्री जयसेनाचार्यजी लिखते हैं -

"किंच यथा कोऽपि देवदत्त आदित्योदयेन दिवसे पश्यति, रात्रौ किमपि प्रदीपेनेति । तथादित्योदयस्थानीयेन केवलज्ञानेन दिवसस्थानीयमोक्षपर्याये प्रदीप स्थानीयेन रागादिविकल्परहित परमसमाधिना निजात्मानं पश्यतीति ।"

अर्थ - जिस तरह कोई एक देवदत्त किसी वस्तु को दिन में सूर्य के प्रकाश में देखता है और रात्रि में प्रदीप के प्रकाश में देखता है । उसी तरह सूर्य की जगह भगवान केवलज्ञान से दिवसस्थानीय मोक्षपर्याय में शुद्धात्मा को अनुभवता है; और संसारी (अव्रती) विवेकीजन (सम्यक्त्वी) निशास्थानीय संसार में दीपस्थानीय मतिश्रुतज्ञान से रागादिविकल्परहित (शुद्धोपयोग) परमसमाधि से (शुद्धोपयोग से) निजात्मा का (स्वभाव शुद्धात्मा का) अनुभव करता है ।

इससे यह सिद्ध होता है कि जो अव्रती सम्क्त्वी जीव है उस के पास निशास्थानीय संसार अवस्था में भी अल्प प्रकाशवाला दीपक है याने जघन्य शुद्धात्मानुभव है; और मिथ्यात्व, सासादान, मिश्र गुणस्थानवर्ती जीवों के पास अल्प प्रकाशवाला भी दीपक नहीं है याने मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र गुणस्थानवर्ती जीव शुद्धात्मा का जघन्यरूप से भी अनुभव नहीं करते हैं ।

श्री कुंदकुंदाचार्य बारसाणुपेक्खा में (कुंदकुंदभारती पृष्ठ ३१९) लिखते हैं -

"सुद्धुवजोगेण पुणो धम्मं सुक्कं च होदि जीवस्स ।

तम्हा संवरहेदू झाणो त्ति विचिंतए णिच्चं ।। ६४ ।।

अर्थ - शुद्धोपयोग से जीव के धर्मध्यान और शुक्लध्यान होता है, इसलिये ध्यान (शुद्धात्मानुभव) संवर का कारण है, ऐसा निरन्तर विचार करना चाहिये ।"

चतुर्थ गुणस्थान में धर्मध्यान होता है और शुद्धोपयोग से धर्मध्यान

होता है ऐसा ऊपर गाथा में कहा है इसलिये शुद्धोपयोग से ही चतुर्थगुणस्थान (अव्रतीसम्यक्त्वी) होता है ।

३) शंका - तत्वानुशासनके इन श्लोकों का अर्थ क्या है ?

अप्रमत्तः प्रमत्तश्च सद्दृष्टिर्देशसंयतः ।
धर्मध्यानस्य चत्वारस्तत्त्वार्थे स्वामिनः स्मृताः ।। ४६ ।।
मुख्योपचारभेदेन धर्मध्यानमिह द्विधा ।
अप्रमत्तेषु तन्मुख्यमितरेष्वौपचारिकं ।। ४७ ।।

उत्तर - तत्वार्थसूत्र में श्री उमास्वामी आचार्यजी ने १) अविरत सम्यक्त्वी, २) देशसंयत, ३) अप्रमत्तगुणस्थान, और ४) प्रमत्त गुणस्थान- इन चार गुणस्थानवर्ती जीवों को धर्मध्यान-के स्वामी माना है । वह धर्मध्यान १) मुख्य (उत्कृष्ट) धर्मध्यान, २) उपचार (जघन्य) धर्मध्यान- इस तरह दो प्रकार का है । उसमें उत्कृष्ट धर्मध्यान अप्रमत्तगुणस्थानवर्ती जीवों को होता है और अविरत सम्यक्त्वी गुणस्थानवाले को, देशसंयमी को और प्रमत्त गुणस्थानवाले जीवों को जघन्य धर्मध्यान होता है । याने धर्मध्यान की उत्कृष्ट स्थिरता और दृढता सकलसंयमी जीव की है, और धर्मध्यान की जघन्य स्थिरता अविरत सम्यक्त्वी जीव की है । मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र गुणस्थानवर्ती जीवों को धर्मध्यान का स्वामित्व नहीं है ।

४) शंका - १) धर्मध्यान का क्या अर्थ है ?

उत्तर - कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा नं. ४७१ की संस्कृत टीका में श्री आचार्य शुभचन्द्रजी लिखते हैं कि -

" धर्मो वस्तुस्वरूपं धर्मादनपेतं धर्म्यं ध्यानं तृतीयम् "

धर्म याने वस्तरूप (वस्तुका स्वभाव), वस्तु स्वरूप से रहित न हो ऐसा जो ध्यान उसको धर्मध्यान कहते हैं । धर्म के बिना उस ध्यान का अस्तित्व नहीं पाया जाता है ।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा नं. ४७२ की संस्कृत टीका में लिखते हैं कि -

"धर्म्यं धर्मे स्वस्वरूपे भवं धर्म्यं ध्यानम् । "

धर्म्य याने अपने निजात्मा के स्वभावमय धर्म में होनेवाला वह धर्म्यध्यान है ।

श्री देवसेनाचार्यजी भावसंग्रह में लिखते हैं कि -

"आहवा वत्थुसहावं धम्मो वत्थू पुणो व सो अप्पा ।
झायंताणं कहियं धम्मज्झाणं मुणिंदेहिं ।। ३७३ ।।

अर्थ - अथवा वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं ; और वह वस्तु याने अपना आत्मा है, उस अपने आत्मा के स्वभाव का जो ध्यान वह धर्मध्यान है । ऐसा मुनीन्द्रों के द्वारा कहा गया है ।"

अविरत सम्यक्त्वी जीव भी धर्मध्यान का स्वामी है इसलिये अविरत सम्यक्त्वी जीव के द्वारा अपने निजस्वभाव का ध्यान होता है । अपने निज स्वभाव के ध्यान को ही स्वानुभूति (शुद्धोपयोग) कहते हैं ।

५) शंका - भावसंग्रहकी इन गाथाओं का क्या अर्थ है ?

जं पुण वि णिरालंबं तं झाणं गयपमायगुण ठाणे ।
चत्तगेहस्स जायइ धरियं जिणलिंगरुवस्स ।।३८२ ।।
जो भणइ कोइ एवं अत्थि गिहत्थाण णिच्चलं झाणं ।
सुद्धं च णिरालंबं ण मुणइ सो आयमो जइणो ।।३८२ ।।
कहियाणि दिट्ठिवाएपडुच्च गुणठाण जाणि झाणाणि ।
तम्हा स देसविरओ मुक्खं धम्मं ण ज्झाएई ।।३८३ ।।

(त्रिकलम्)

उत्तर - इन गाथाओं का अर्थ इस प्रकार करना चाहिए - जो मुख्य निरालंब (उत्कृष्ट धर्मध्यानस्वरूपी स्वानुभूतिमय) ध्यान है वह ध्यान गृहत्याग किये हुये जिनलिंगधारी अप्रमत्तगुणस्थानवर्ती जीवों को होता है । इस लिये देशविरत (पंचम गुणस्थानवाले) जीव को मुख्य निरालंब ध्यान (याने सप्तम गुणस्थानवर्ती उत्कृष्ट धर्मध्यान) नहीं होता । याने गौण धर्मध्यान होता है, क्योंकि मुख्य धर्मध्यान नहीं होता, किन्तु गौण (जघन्य) धर्मध्यान का अभाव

नहीं है ।

जो कोई ऐसा कहता है कि गृहस्थ जीव को मुख्य शुद्धनिरालंब-धर्मध्यान (याने सप्तम गुणस्थानवर्ती जैसा उत्कृष्ट धर्मध्यान) होता है वह दिगम्बर जैन दृष्टिवाद अंग के द्वारा कहे हुए **गुणस्थानवर्ती** ध्यानों को मानता नहीं (जानता नहीं); याने जो गृहस्थी जीव मिथ्यात्व- सासादन- मिश्र गुणस्थानवर्ती हैं उनको आर्त्तरौद्रध्यान होते हैं । जो नग्न दिगम्बर मुनि नहीं हुए हैं ऐसे गृहस्थ जीव जो अविरत सम्यक्त्वी और जो देशविरत सम्यक्त्वी जीव हैं, इनमें से अविरत सम्यक्त्वी को जघन्य (अल्प) **णिरालंब** - स्वानुभूति होती है; और अविरत-सम्यक्त्वी की शुद्धस्वानुभूति से कुछ अधिक दृढता से शुद्धस्वानुभूति देशविरत सम्यक्त्वी को होती है; और देशविरत सम्यक्त्वी की स्वानुभूति से अधिक दृढता से स्वानुभूति सकलसंयमी को होती है । इस प्रकार से धर्मध्यानों का कथन दिगम्बर जैन दृष्टिवाद अंग में है ।

इस प्रकार से जो स्वानुभूति का होना नहीं मानता, वह दिगम्बर जैन दृष्टिवाद अंग को नहीं जानता । इससे यह सिद्ध होता है कि अविरत सम्यक्त्वी को शुद्धात्मा का अनुभव होता है । यहाँ सूत्र के (आगम के)[१] सामर्थ्य से गाथा ३८३ में के मुख्य शब्द का संबंध गाथा नं. ३८१ के ' णिरालंब' शब्द के साथ भी है ।

६) **शंका** - यदि गाथा नं. ३८३ में के मुख्य शब्द का संबंध गाथा नं. ३८१ के णिरालंब के साथ न करके चतुर्थ गुणस्थानवर्ती और पंचम गुणस्थानवर्ती जीवों को निजशुद्धात्मा की स्वानुभूति (अल्प निरालंबध्यान) नहीं होती ऐसा मानेंगे तो क्या बाधा आती है ?

उत्तर - तो फिर प्रवचनसार गाथा नंबर ८० की टीका में श्री जयसेनाचार्यजी ने जो लिखा है कि, शुद्धोपयोग से ही दर्शनमोह का उपशमादि होता है वह घटित नहीं होता । जब शुद्धोपयोग (शुद्धात्मानुभूति) के अभाव में सम्यक्त्व प्रगट नहीं होता है, तब सम्यक्त्व के अभाव में चतुर्थ पंचम गुणस्थान और सकलसंसमी के गुणस्थान होंगे ही नहीं ; और सम्यक्त्वी के शुद्धात्मानुभव के अभाव में मोक्षमार्ग शुरू नहीं होगा ।

टीप -१) पूर्वापर आचार्यों के उपदेश की सामर्थ्य से ।

७) **शंका** - १) बाह्य पूजा, भक्ति, प्रशमादि इन को देखकर अविरत को सम्यक्त्व है ऐसा मानेंगे, २) बाह्य पूजा, भक्ति, प्रशमादि और अणुव्रत का पालन देखकर देशव्रती को सम्यक्त्व है ऐसा मानेंगे, और ३) बाह्य प्रशमादि भक्ति और महाव्रत का पालन देखकर महाव्रती को सम्यक्त्व है ऐसा मानेंगे, इस तरह इन सब को मोक्षमार्गस्थ मानेंगे तो क्या बाधा आती है ?

समाधान - देखो धवल पुस्तक १ पृष्ठ १५२

"प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं सम्यक्त्वं । सति एवं असंयतसम्यग्दृष्टिगुणस्य अभावःस्यात् इति चेत्, सत्यं एतत्, शुद्धनये समाश्रियमाणे । अथवा तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् । अस्य गमनिका उच्यते-आप्तागमपदार्थाः तत्वार्थाः तेषु श्रद्धानं अनुरक्तता सम्यग्दर्शनं इति लक्ष्यनिर्देशः । कथं पौरस्त्येन लक्षणेन अस्य लक्षणस्य न विरोधः चेत्, न एष दोषः, शुद्धाशुद्धनयसमाश्रयणात् । अथवा तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वं, अशुद्धतरनयसमाश्रयणात् ।"

अर्थ - प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य इनकी बाह्य अभिव्यक्ति को सम्यक्त्व का लक्षण कहते हैं । **शंकाकार**-यदि प्रशमादिभावों को सम्यक्त्व का लक्षण माना जाय तो असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान का अभाव होने का प्रसंग आयेगा ? (अर्थात् प्रशमादि की अभिव्यक्ति मिथ्यात्वी जीव में भी दिखाई देती है तब प्रशमादि की अभिव्यक्ति होना, यह लक्षण सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी दोनों जीवों में चला गया, इसलिये प्रशमादि यह लक्षण दोषयुक्त है । इसलिये असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान का अभाव होने का प्रसंग आयेगा (आपत्ति आयेगी) ।

समाधान - यह सत्य है (यह आपका कथन सत्य है) । प्रशमादि की अभिव्यक्ति यह लक्षण शुद्धनय (यहाँ यह **शुद्धनय** अ[illegible]भाषाका है याने शुद्धनय अर्थात् आगमभाषा का शुद्धसंग्रहनय है **अर्थात् अध्यात्म** भाषा का उपचार या व्यवहानय है, उस व्यवहारनय) के **आश्रय से** किया है । अर्थात्

प्रशमादि की अभिव्यक्ति यह लक्षण व्यवहारनय से है ।

अथवा आप्त, आगम, पदार्थ ये तत्त्वार्थ हैं । उन तत्त्वों में या उन पदार्थों में श्रद्धान, अनुरक्तता यह सम्यग्दर्शन का लक्षण अशुद्धनय से (अर्थात् आगमभाषा के अशुद्धसंग्रहनय से याने अध्यात्मभाषा के व्यवहारनय से) है। सम्यग्दर्शन यह लक्ष्य है ।

शंकाकार - प्रशमादि की अभिव्यक्तिरूप लक्षण से तत्त्वार्थश्रद्धानरूप लक्षण के साथ क्यों विरोध नहीं आता है ?

समाधान - यह दोष नहीं है क्योंकि प्रशमादि की अभिव्यक्ति यह लक्षण शुद्धनयाश्रित (आगमभाषा के शुद्धसंग्रहनय अर्थात् अध्यात्मभाषा के उपचार व्यवहारनय के आश्रित) है और तत्त्वार्थश्रद्धान यह लक्षण आगमभाषा के अशुद्धसंग्रहनय अर्थात् अध्यात्मभाषा के व्यवहारनय के आश्रित है ।

अथवा तत्त्वरुचि (शुद्धात्मानुभव) यह सम्यक्त्व का लक्षण है । यह लक्षण (शुद्धात्मानुभव यह लक्षण) अशुद्धतरनयाश्रित (आगमभाषा के अशुद्धतर संग्रहनयाश्रित याने अध्यात्मभाषा के शुद्धनयाश्रित) है ।

इससे यह सिद्ध हुआ कि श्री वीरसेन स्वामी (धवला टीकाकार) शुद्धात्मानुभूति को ही सम्यग्दर्शन का निर्दोष लक्षण मानते हैं और प्रशमादि यह लक्षण व्यभिचारी (दोषयुक्त) है ।

श्री कुंदकुंदाचार्य पंचास्तिकाय में लिखते हैं कि -

"अरहंतसिद्धचेदिय पवयणगणणाणभत्तिसंपण्णो ।
बंधदि पुण्णं बहुसो ण दु सो कम्मक्खयं कुणदि ।। १६६ ।।

अर्थ - अरहंत, सिद्ध, चैत्यालय, प्रतिमा, प्रवचन अर्थात् सिद्धान्त, मुनिसमूह, ज्ञान की भक्ति, स्तुति, पूजा, सेवादिक से संपन्न पुरुष बहुत प्रकार का या बहुतबार अनेक प्रकार के पुण्यकर्म को बांधता है; लेकिन वह पुरुष कर्मक्षय नहीं करता (याने संवरपूर्वक निर्जरा अथवा मोक्षमार्गस्थ नहीं होता)

है ।''

इस १६६ नंबर की गाथा की पातनिका में श्री अमृतचंद्राचार्यजी लिखते हैं कि - '**कथञ्चित् बन्धहेतुत्वेन मोक्षमार्गत्वनिरासः अयम्**' याने वह पूजा, भक्ति, प्रशमादिभाव (शुभभाव) बंध का कारण होने से पूजा, भक्ति, प्रशमादिभाव मोक्षमार्ग नहीं हैं । याने शुद्धात्मानुभव न होने से वह अव्रती जीव मिथ्यात्वी (प्रथमगुणस्थानवर्ती) है क्योंकि परसमय में रत है ।[१]

उसी प्रकार शुद्धात्मानुभूति से रहित अणुव्रत का पालन करनेवाला जीव भी मिथ्यात्वी (प्रथमगुणस्थानवर्ती) है । श्री धर्मदासजी क्षुल्लक ने खुद अपना जीवन वृत्त लिखा हुआ है । उस से यह निश्चित होता है कि स्वात्मानुभव के पहले वे अणुव्रत पालन करते थे, पूजादि भाव करते थे तो भी मिथ्यात्वी थे और जब स्वानुभूति हुई तब वे पंचमगुणस्थानवर्ती हुए ।

उसी प्रकार शुद्धात्मानुभूति से रहित महाव्रत का पालन करनेवाला जीव भी मिथ्यात्वी (प्रथमगुणस्थानवर्ती) है । देखो नियमसार गाथा नंबर १४४ और उसकी संस्कृत टीका-

''जो चरदि संजदो खलु सुहभावे सो हवेइ अण्णवसो ।
तम्हा तस्स दु कम्मं आवासय लक्खणं ण हवे ।। १४४ ।।

अर्थ - जो जीव संयत रहता हुआ वास्तव में शुभ भाव में प्रवर्तता है (आचरण करता है), वह अन्यवश याने परवश (मिथ्यात्वी) है इसलिये उस के वह आवश्यक स्वरूप कर्म (शुद्धात्मानुभव) नहीं है ।''

---

१) **टीप** - पंचास्तिकाय गाथा १६६ की श्री. अमृतचन्द्राचार्य विरचित टीका - '**परसमयप्रवृत्तिनिबन्धनत्वाद् इति ।**'

"यः खलु जिनेन्द्रवदनारविन्दविनिर्गतपरमाचारशास्त्रक्रमेण सदा संयतः सन् शुभोपयोगे चरति, व्यावहारिकधर्मध्यानपरिणतः अत एव चरणकरणप्रधानः, स्वाध्यायकालमवलोकयन् स्वाध्यायक्रियां करोति, दैनं दैनं भुक्त्वा भुक्त्वा चतुर्विधाहारप्रत्याख्यानं च करोति, तिसृषु संध्यासु भगवदर्हत्परमेश्वरस्तुतिशतसहस्रमुखरमुखारविन्दो भवति, त्रिकालेषु च नियमपरायणः इत्यहोरात्रेऽप्येकादशक्रियातत्परः पाक्षिकमासिकचातुर्मासिक सांवत्सरिकप्रतिक्रमणाकर्णनसमुपजनितपरितोषरोमांचकुंचुकितधर्मशरीरः, अनशनावमौदर्यरसपरित्यागवृत्तिपरिसंख्यानविविक्तशय्यासनकायक्लेशाभिधानेषु षट्सु बाह्यतपस्सु च संततोत्साहपरायणः, स्वाध्यायध्यानशुभाचरणप्रच्युतप्रत्यवस्थापनात्मकप्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यव्युत्सर्गनामधेयेषु चाभ्यन्तरपोनुष्ठानेषु च कुशलबुद्धिः, किन्तु स निरपेक्षतपोधनः साक्षान्मोक्षकारणं स्वात्माश्रयावश्यककर्म निश्चयतः परमात्मतत्त्वविश्रान्तिरूपं निश्चयधर्मध्यानं शुक्लध्यानं चं न जानीते, अतः परद्रव्यगतत्वादन्यवश इत्युक्तः।"

अर्थ - जो (महाव्रती) वास्तव में जिनेंद्र के मुखारविन्द से निकले हुए परम आचारशास्त्र के क्रम से (रीति से) सदा संयत रहता हुआ शुभोपयोग में प्रवर्तता है; व्यावहारिक धर्मध्यान में परिणत रहता है इसीलिये चरणकरणप्रधान है (शुभ आचरण के परिणाम जिसको मुख्य हैं, ऐसा); स्वाध्यायकाल का अवलोकन करता हुआ (स्वाध्याय योग्य काल का ध्यान रखकर) स्वाध्याय क्रिया करता है, प्रतिदिन भोजन करके चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान करता है, तीन संध्याओं के समय (प्रातः, मध्यान्ह, तथा सायंकाल) भगवान् अर्हत् परमेश्वर की लाखों स्तुति मुखकमल से बोलता है, तीनों काल नियम परायण रहता है; इस प्रकार अहर्निश (दिनरात) ग्यारह क्रियाओं में तत्पर रहता है, पाक्षिक, मासिक, चातुर्मासिक तथा सांवत्सरिक प्रतिक्रमण सुनने से उत्पन्न हुए सन्तोष से जिसका धर्मशरीर रोमांच से छा जाता है; अनशन, अवमौदर्य, रसपरित्याग, वृत्तिपरिसंख्यान, विविक्त शय्यासन और कायक्लेश नाम के छह बाह्यतपों में जो सतत उत्साह परायण रहता है; स्वाध्याय, ध्यान, शुभ आचरण

से च्युत होने पर पुनः उन में स्थापनस्वरूप प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्त्य और व्युत्सर्ग नामक अभ्यन्तर तपों के अनुष्ठानों में (आचरण में) जो कुशलबुद्धिवाला है; परंतु वह निरपेक्ष तपोधन **साक्षात् मोक्ष के कारणभूत स्वात्माश्रित आवश्यककर्म को निश्चय से परमात्मतत्त्व में विश्रान्तिरूप निश्चयधर्मध्यान को (शुद्धात्मानुभूतिको)** नहीं जानता नहीं अनुभवता, तब शुक्लध्यान भी नहीं जानता याने उस जीव को स्वानुभव नहीं है, इसलिये धर्मध्यान ही नहीं है- वह प्रथम गुणस्थानवर्ती जीव है मिथ्यादृष्टि जीव है, क्योंकि आसन्नभव्यता गुण अभी तक प्रकट नहीं हुआ है। इसलिये वह जीव महाव्रतका पालन करता है, प्रशमादि बाह्य परिणाम भी उसके पास हैं लेकिन शुद्धात्मानुभव नहीं है इसलिये मिथ्यात्वी है, परद्रव्यगत होने से अन्यवश कहा गया है।

आगे कहते हैं, कि "**आसन्नभव्यतागुणोदये सति**" **आसन्नभव्यत्व प्राप्त होगा तब** "**परमगुरुप्रसादासादितपरमतत्त्वश्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानात्मकशुद्ध निश्चयरत्नत्रयपरिणत्या निर्वाणमुपयातीति**" (उस समय ही) परमगुरु के प्रसाद से प्राप्त परमतत्त्व की श्रद्धा, ज्ञान, अनुष्ठान प्राप्त होगा याने सम्यक्त्व प्राप्त होगा (शुद्धात्मानुभव प्राप्त होगा) उसके बाद ही मोक्ष प्राप्त होगा।

और भी देखो प्रवचनसार गाथा नं. ७९ तत्त्व प्रदीपिका

"**चत्ता पावारंभं समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्मि।**
ण जहदि जदि मोहादी ण लहदि सोअप्पगं सुद्धं ॥ ७९ ॥

अर्थ - पापारंभ को छोडकर शुभ चारित्र में उद्यत हेने पर भी यदि जीव दर्शनमोहादि को नहीं छोडता (मिथ्यात्वी हो तो) वह शुद्धात्मा को प्राप्त नहीं होता।"

याने शुद्धात्मानुभव नहीं (शुद्धोपयोग नहीं) है तो दर्शनमोह का

उपशमादि न होने से महाव्रत का पालन करते हुए प्रशमादिभाव रहते हुए भी वह मिथ्यात्वगुणस्थानवर्ती ही रहा।

और भी देखो समयसार गाथा नं. १५२ आत्मख्याति

"परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेई।
तं सव्वं बालतवं बालवदं विंति सव्वण्हू ॥ १५२ ॥

अर्थ - जो जीव परमार्थ में (शुद्धात्मानुभूति में) स्थित नहीं और तप करता है तथा व्रतों को धारण करता है तो उन सब तप और व्रतों को सर्वज्ञदेव बालतप (अज्ञानतप) बालव्रत (अज्ञानव्रत) कहते हैं।"

इससे सिद्ध होता है कि शुद्धात्मानुभूति से रहित अणुव्रत अथवा महाव्रत, प्रशमादिभाव मिथ्यात्वगुणस्थान में भी दिखाई देते हैं। शुद्धात्मानुभूति से रहित जो जीव है वह मोक्षमार्गस्थ नहीं है और जो शुद्धात्मानुभूति से सहित है, वह सम्यक्त्वी है - मोक्षमार्गस्थ है।

देखो - रत्नकरंड श्रावकाचार श्लोक नं. ३३

"गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥ ३३ ॥

अर्थ - दर्शनमोह से रहित (शुद्धात्मानुभूतिवाला) अव्रती गृहस्थ मोक्षमार्गस्थ (सम्यक्श्रद्धा, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चारित्र[1] स्वरूपाचरण चारित्र सहित) है लेकिन दर्शन मोहसहित (शुद्धात्मानुभूतिसे रहित)

---

१ टीप - श्लोकवार्तिक अ. १, सू. १ कारिका १०५ में की वृत्ति **"न हि चारित्रमोहोदयमात्राद् भवद्चारित्रं दर्शनचारित्रमोहोदयजनिताद् अचारित्राद् अभिन्न एव इति साधयितुं शक्यं, सर्वत्र कारणभेदस्य फलाभेदकत्वप्रसक्तेः।"**

अर्थ - चौथे गुणस्थान में दर्शन मोहनीय के संबंध से रहित होकर केवल चारित्रमोहनीय के उदय से होनेवाला जो चारित्र है, वह पहले गुणस्थान में दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय के उदय से होनेवाले मिथ्याचारित्र से अभिन्न ही है, इस बात को सिद्ध करना शक्य नहीं है। शक्य न हो तो भी मान लिया तो सर्वत्र कारणभेद होनेपर भी कार्यफल में अभेद मानने का प्रसंग आ जायेगा।

व्रतधारी मुनि मोक्षमार्गस्थ नहीं है । इसलिये शुद्धात्मानुभूतिवाला अव्रती गृहस्थ शुद्धात्मानुभूति से रहित सर्व प्रकार के महाव्रतों का पालन करनेवाले मुनि से श्रेष्ठ है ।''

इससे सिद्ध होता है कि **शुद्धात्मानुभूति से ही मोक्षमार्ग शुरु होता है** । जिस समय शुद्धात्मानुभव होता है उसी समय श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र में समीचीनता आती है ।

प्रवचनसार गाथा नं. ९ की तात्पर्यवृत्ति में श्री जयसेनाचार्यजी लिखते हैं कि -

'' व्यवहारेण गृहस्थापेक्षया यथासंभवं सरागसम्यक्त्वपूर्वकदान पूजादिशुभानुष्ठानेन, तपोधनापेक्षया तु मूलोत्तरगुणादिशुभानुष्ठेनेन परिणतः शुभो ज्ञातव्य, इति ।

अर्थ - व्यवहार से गृहस्थ की अपेक्षा से यथासंभव, सराग सम्यक्त्वपूर्वक दानपूजादि शुभानुष्ठान से परिणत शुभ जानना चाहिये और तपोधन अपेक्षा से मूलगुणादि शुभानुष्ठान से परिणत शुभ जानना चाहिये ।'' याने दानपूजादि भाव, अणुव्रतपालन के भाव और मूलोत्तरगुणपालन के भाव ये सब शुभभाव हैं, वह शुभोपयोग है ।

जो शुद्धात्मानुभूति से रहित हैं और दानपूजादि, अणुव्रतकी क्रिया और मूलोत्तरगुण पालन की क्रिया करते हैं वे शुद्धोपयोग से रहित होने से मोक्षमार्गस्थ नहीं हैं ।

८) **शंका** - प्रवचनसार गाथा नं. ९ की तात्पर्यवृत्ति में - श्री जयसेनाचार्यजी लिखते हैं कि -

''१) मिथ्यात्वसासादानमिश्रगुणस्थानत्रये तारतंम्येनाशुभोपयोगः

२) तदनंतरमसंयत सम्यग्दृष्टि देशविरतप्रमत्तसंयतगुणस्थानत्रये तारतम्येन शुभोपयोगः ...... ''

तथा - '' बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ३४ की टीकामें - '' ततोऽप्यसंयत सम्यग्दृष्टिश्रावकप्रमत्तसंयतेषु पारम्पर्येण शुद्धोपयोगसाधक उपर्युपरि तारतम्येन शुभोपयोगो वर्तते '' तो इसका अर्थ क्या है ?

उत्तर - १) मिथ्यात्व, सासादान, मिश्र-इन तीन गुणस्थानों में तरतमता से अशुभोपयोग है । यहाँ **तरतमता** शब्द महत्वका है । मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती जीव भी एक अंतर्मुहूर्त अशुभोपयोग करता है, उसके बाद एक अंतर्मुहूर्त शुभोपयोग करता है, फिर एक अंतर्मुहूर्त अशुभोपयोग करता है, फिर एक अंतर्मुहूर्त शुभोपयोग करता है ।

देखो - कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा नं. ४७० -

''अंतो मुहुत्त मेत्तं लीणं वत्थुम्मि माणसं णाणं ।
झाणं भण्णदि समए असुहं च सुहं (सुद्धं) च तं दुविहं ।।४७०।।

अर्थ - चेतनोपयोग वस्तु में एक अंतर्मुहूर्त तक रहता है उसे आगम में ध्यान कहते हैं, वह अशुभ और शुभ (अथवा पाठभेद से शुद्ध) ऐसे दो प्रकार का है ।

श्री समयसार में गाथा नं. १७१ में कहा है क्षयोपशम ज्ञानी का उपयोग अंतर्मुहूर्त में बदलता है ।

और भी देखो महापुराण पर्व -२१, श्लोक नं ३८, ४४

''अप्रशस्ततमं लेश्यात्रयमाश्रित्य जृम्भितम् ।
अन्तर्मुहूर्तकालं तदप्रशस्तावलम्बनम् ।। ३८ ।।

अर्थ - अप्रशस्ततम लेश्याओं का आश्रय करके चार प्रकार का आर्त्तध्यान होता है और वह अंतर्मुहूर्त काल तक अप्रशस्त का अवलंबन लेने से होता है ।

प्रकृष्टतरदुर्लेश्यात्रयोपोद्बलबृंहितम् ।
अन्तर्मुहूर्तकालोत्थं पूर्ववद्भवमिष्यते ।। ४४ ।।

अर्थ - प्रकृष्टतर तीनों दुर्लेश्याओं के बल से रौद्र ध्यान वृद्धिंगत होता है, उसकी मर्यादा अन्तर्मुहूर्त है और आर्तध्यान के समान इस में क्षायोपशमिक भाव है ।''

तंदुलमत्स्य अशुभ परिणाम करने से सातवें नरक में गया। कोई अभव्य जीव जिनलिंग धारण कर के शुभभावों से नवग्रैवेयिक के स्वर्ग में जाता है।

जीवंधरजी ने कुत्ते को णमोकार मंत्र दिया तो कुत्ता मिथ्यात्वी ही था, लेकिन शुभभाव होने से भवनत्रिक में देव हुआ। पार्श्वनाथजी ने गृहस्थ जीवन में सर्पयुगल को णमोकार मंत्र सुनाया, तो वह सर्पयुगल मिथ्यात्वसहित शुभ भाव रहने से भवनत्रिक में पैदा हुआ। इससे यह सिद्ध होता है कि मिथ्यात्व गुणस्थान में शुभ और अशुभ उपयोग होता है इसलिये श्री आचार्यजी ने "**तरतमता**" इस शब्दका प्रयोग किया है।

२) असंयत (अव्रती) सम्यग्दृष्टि, देशविरत सम्यक्त्वी, और प्रमत्तसंयत इन गुणस्थानों में तरतमता से शुभोपयोग है। यहाँ भी तरतमता शब्द महत्व का है। प्रमत्तसंयतगुणस्थान में शुभोपयोग होता है। कभी किसी को आर्तध्यान (अशुभोपयोग) भी होता है। (देखो ज्ञानार्णव प्रकरण नं. २५, श्लोक नं. ३८)

शुद्धोपयोग से सप्तम गुणस्थान होने के बाद प्रमत्तसंयत (छठ्ठा गुणस्थान) होता है। प्रमत्तसंयत गुणस्थान में विकल्प हैं।

शुद्धोपयोग से ही असंयतसम्यक्त्वी (अव्रती सम्यक्त्वी) और शुद्धोपयोग से ही देशविरत सम्यक्त्वी का गुणस्थान प्रगट होता है, उसके बाद वह सविकल्प अवस्था में आता है (अशुद्धोपयोग याने शुभाशुभ भाव में आता है); उसके बाद कभी शुद्धोपयोग होता है, फिर शुभोपयोग होता है। अव्रती सम्यक्त्वी को अशुभोपयोग भी होता है। क्षायिकसम्यक्त्वी श्रेणिक ने आत्महत्या की; क्षायिक सम्यक्त्व होते हुए भी श्रेणिक का मरते समय अशुभोपयोग था। इसलिये तरतमता से कहने में यहाँ शुद्धोपयोग और अशुभोपयोग भी है यह दिखाया है।

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव के शुभोपयोग से पंचम गुणस्थानवर्ती जीव का शुभोपयोग उत्कृष्ट है, और पंचम गुणस्थानवर्ती जीव के शुभोपयोग से छट्ठे गुणस्थानवर्ती जीव का अधिकतर उत्कृष्ट शुभोपयोग है।

और भी देखो श्री समंतभद्राचार्य रत्नकरंड श्रावकाचार में लिखते हैं कि गृहस्थ को सामायिक के समय शुद्धोपयोग है -

''सामयिके सारम्भाः परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि ।

चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभावम् ।। १०२ ।।

अर्थ - यतः सामायिक काल में आरम्भसहित सभी परिग्रह नहीं होते हैं, अतः उस समय गृहस्थ वस्त्र से वेष्टित मुनि के समान मुनिपने को याने शुद्धात्मानुभूति को प्राप्त करता है। (शुद्धात्मानुभव लेता है)। ''

और भी देखिये प्रवचनसार गाथा नं. २४८ -

''दंसणणाणुवदेसी सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं ।

चरिया हि सरागाणां जिणिंदपूजोवदेसो य ।। २४८ ।।''

तात्पर्यवृत्ति में श्री जयसेनाचार्यजी लिखते हैं कि -

'' ननु शुभोपयोगिनामपि क्वापि काले शुद्धोपयोगभावना दृश्यते, शुद्धोपयोगिनामपि क्वापि काले शुभोपयोगभावना दृश्यते, श्रावकाणामपि सामायिकादिकाले शुद्धभावना दृश्यते, तेषां कथं विशेषो भेदो ज्ञायते इति । परिहारमाह-युक्तं उक्तं भवता, परं किंतु ये प्रचुरेण शुभोपयोगेन वर्तन्ते ते यद्यपि क्वापि काले शुद्धोपयोगभावनां कुर्वन्ति तथापि शुभोपयोगिन एव भण्यन्ते । येऽपि शुद्धोपयोगिनस्ते यद्यपि क्वापि काले शुभोपयोगेन वर्तन्ते तथापि शुद्धोपयोगिन एव । कस्मात् ? वहुपदस्य प्रधानत्वाद् आम्रवननिम्बवनवदिति ।।

अर्थ - शंका- शुभोपयोगवालों को कभी-कभी शुद्धोपयोगभावना (शुद्धोत्मानुभूति) दिखाई देती है और शुद्धोपयोगवालों को कभी-कभी शुभोपयोगभावना (शुभोपयोग) दिखाई देती है, और श्रावकों को भी सामायिकादिकाल में शुद्धभावना (शुद्धात्मानुभूति) दिखाई देती है तो उन में क्या विशेष भेद है ?

उत्तर - आपका कहना सत्य है (याने शुभोपयोगवालोंको कभी-कभी शुद्धोपयोग (शुद्धात्मानुभव) होता है और शुद्धोपयोगवालों को कभी-कभी शुभोपयोग होता है और, **श्रावकों को भी सामायिकादिकाल में शुद्धभावना (शुद्धात्माभूति) होती है** यह सत्य है। लेकिन जो **प्रचुरता से (बहुलता से)** शुभोपयोग से प्रवर्तते हैं वे कभी कभी शुद्धोपयोगभावना (शुद्धात्मानुभव) करते हैं तथापि बहुलता की अपेक्षा से शुभोपयोगवाले हैं ऐसा कहते हैं; और जो शुद्धोपयोगवाले हैं वे यद्यपि कभी-कभी शुभोपयोग से प्रवर्तते हैं तथापि बहुलता की अपेक्षा से वे शुद्धोपयोगवाले हैं ऐसा कहने में आता है। जैसे किसी वन में आम्रवृक्ष अधिक हैं और नीम, अशोक इत्यादि वृक्ष थोडे हैं तो उस वन को आम्रवन कहते हैं, और किसी वन में नीम के वृक्ष बहुत हैं और आम्रादि वृक्ष कम हैं, तो उस वन को नीम का बन कहते हैं।''

इससे यह सिद्ध होता है कि प्रवचनसार गाथा नं. ९ की टीका में असंयतसम्यक्त्वी और देशविरत सम्यक्त्वी को तरतमता से याने बहुलताकी अपेक्षा से शुभोपयोगवाले कहा है और उनको कभी कभी शुद्धोपयोग (शुद्धात्मानुभव) होता ही है। और प्रवचनसार गाथा नं. ८० की टीका का जो उद्धरण दिया है उससे स्पष्ट होता है कि शुद्धात्मानुभूति से (शुद्धोपयोग से) ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

९) **शंका** - आपने जो प्रवचनसार गाथा नं. २४८ की श्री जयसेनाचार्यकी टीका उद्धृत की है उस में 'शुद्धभावना' शब्द पडा है तो शुद्धभावना का अर्थ शुद्धोपयोग अथवा शुद्धात्मानुभव हो सकता है । इसके लिये कुछ आगम प्रमाण दीजिये।

उत्तर - देखो बृहत् द्रव्यसंग्रह की **श्री ब्रम्हदेवसूरि** विरचित संस्कृत टीका -

उसकी द्वितीय अधिकार की गाथा २८ की पातनिका में लिखा है कि, शुद्धभावना याने निर्विकल्पसमाधि (शुद्धात्मानुभूति), **शुद्धोपयोग**- इत्यादि,

" स च पूर्वोक्तविवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चय आगमभाषया किं भण्यते - स्वशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धाज्ञानानुचरणरूपेण भविष्यतीति भव्यः, एवंभूतस्य भव्यत्वसंज्ञस्य पारिणामिकभावस्य संबन्धिनी व्यक्तिर्भण्यते। अध्यात्मभाषया पुनर्द्रव्यशक्तिरूप-शुद्धपारिणामिकभावविषये भावना भण्यते, पर्यायनामान्तरेण निर्विकल्पसमाधिर्वा शुद्धोपयोगादिकं चेति "

अर्थ - जो भव्य जीव मिथ्यात्वी था वह जब मोक्षमार्गस्थ होता है तब एकदेश शुद्ध निश्चय (एकदेशशुद्ध) होता है। उस एकदेश शुद्धनिश्चय को (याने एकदेश शुद्धपरिणाम को)

आगमभाषा से इस तरह कहते हैं कि जो स्वशुद्धात्मा के सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूप होगा वह भव्य होता है, उस भव्यत्वनामक पारिणामिक भाव की व्यक्ति (प्रगटता) हो गयी।

अध्यत्मभाषा से कहते हैं कि उस जीव ने द्रव्यशक्तिरूप पारिणामिक भाव के विषय में भावना की (याने अपने निजशुद्धात्म स्वभाव का चिंतन स्मरण-अनुभव किया) उस शुद्धात्मभावना को पर्याय नामान्तर से निर्विकल्प समाधि, शुद्धोपयोग, अभेदरत्नत्रय, निश्चयसम्यक्त्व, शुद्धात्मानुभूति, शुद्धात्मानुभव इत्यादि कहते हैं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि शुद्धभावना, शुद्धोपयोग भावना, शुद्धोपयोग, निर्विकल्प समाधि, शुद्धात्मानुभव, अभेदरत्नत्रय ये एकार्थवाची शब्द (समान अर्थी शब्द) हैं।

१०) **शंका**- प्रवचनसार गाथा नं. २५४ की तात्पर्यवृत्तिमें लिखा है-

" .... **निर्विकारचिच्चमत्कारभावनाप्रतिपक्षभूतेनविषय कषायनिमित्तोत्पन्नेनार्तरौद्रदुर्ध्यानद्वयेन परिणतानां गृहस्थानामात्मा-श्रितनिश्चय धर्मस्यावकाशो नास्ति,** ......"

इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर - निविकार चिच्चमत्कार भावना के प्रतिपक्षभूत (शुद्धात्मानुभूति से रहित याने धर्मध्यान रहित याने मिथ्यात्वसहित) विषयकषाय के निमित्त से उत्पन्न हुए आर्त-रौद्र दो ध्यानों के द्वारा परिणत जो गृहस्थजीव हैं उनको आत्माश्रित निश्चय धर्मध्यान का (शुद्धात्मानुभव का) अवकाश नहीं है। लेकिन उन अव्रती सम्यक्त्वी धर्मध्यान (वस्तुस्वरूप को जानकर अपने स्वभाव का पारिणामिकभाव का चिंतवन) करनेवालों को शुद्धात्मस्वभाव आश्रित शुद्धात्मानुभव होता है, उसका निषेध नहीं किया।

११) शंका - समयसार गाथा नं. ९६ की तात्पर्यवृत्ति में श्री जयसेनाचार्यजी लिखते हैं कि,

" ननु वीतरागस्वसंवेदनज्ञानविचारकाले वीतरागविषेशणं किमिति क्रियते प्रचुरेण भवद्भिः, किं सरागमपि स्वसंवेदनज्ञानमस्तीति ? अत्रोत्तरं। विषयसुखानुभवानंदरूपं स्वसंवेदनज्ञानं सर्वजनप्रसिद्धं सरागमप्यस्ति। शुद्धात्मसुखानुभूतिरूपं स्वसंवेदज्ञानं वीतरागमिति व्याख्यानकाले सर्वत्र ज्ञातव्यमिति भावार्थ :॥ "

इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर - शंकाकार पूछता है कि वीतराग स्वसंवेदनज्ञान का विचार करते समय वीतराग ऐसे विशेषण का आप प्रचुरतासे (बहुलतासे) प्रयोग करते हो, तो क्या सराग(रागसहित) स्वसंवेदनज्ञान भी होता है।

श्री जयसेनाचार्यजी उत्तर देते हैं कि-" सर्वजनप्रसिध्द विषय सुखानुभवानंदरूप स्वसंवेदनज्ञान भी है।(अज्ञानी का का स्वसंवेदनज्ञान राग-(अनंतानुबंधी क्रोधमानमायालोभ मिथ्यात्वोदय जनित कषाय सहित है)। और शुध्दात्मसुखानुभूतिरूप स्वसंवेदनज्ञान वीतराग स्वसंवेदन है, याने सम्यक्त्वीका (चतुर्थादिगुणस्थानवर्ती जीवका) स्वसंवेदनज्ञान वीतराग स्वसंवेदन है, क्योंकि, अनुंतानुबंधी क्रोधादि मिथ्यात्वोदयजनित राग रहित है); और निर्विकल्पज्ञान

(शुध्दात्मानुभव) का विषय (ज्ञेय) पारिणामिकभाव है। भावार्थ यह है कि व्याख्यान करते समय यह सर्वत्र जानना चाहिये।"

१२) **शंका - श्री शुभचंद्राचार्यजी ज्ञानार्णवमें लिखते हैं कि -**

"खपुष्पमथवा शृङ्गं खरस्यापि प्रतीयते।
न पुनर्देशकालेऽपि ध्यानसिध्दिर्गृहाश्रमे ॥ १७ ॥ प्रकरण ४

इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर - इस प्रकरण का नाम है ध्यान गुण दोष। इसमें शुक्लध्यान की दृष्टि से कथन किया है। उस श्लोक का यह अर्थ है कि आकाश पुष्प अथवा खर विषाणका होना कदाचित् सम्भव है परन्तु किसी भी देशकाल में गृहस्थाश्रम में ध्यान की (याने शुक्लध्यान की) सिध्दि होना सम्भव नहीं है।

इस श्लोक के कथन के द्वारा, "गृहस्थजीवको धर्मध्यान होता है" इस कथन को बाधा नहीं आती, क्योंकि श्रीशुभचंद्र आचार्यजी ही ज्ञानार्णव ग्रंथ में लिखते हैं कि -

स्वयमेव प्रजायन्ते विना यत्नेन देहिनाम्।
अनदिदृढसंस्कारादूदुर्ध्यानानि प्रतिक्षणम् ॥ ४३ ॥ प्रकरण २६

अर्थ - यह दुर्ध्यान (अप्रशस्त अथवा आर्त्त रौद्र ध्यान) हैं सो जीवों के अनादिकाल के संस्कारसे विना ही यत्न के स्वयमेव निरन्तर उत्पन्न होते हैं। इससे सब छद्मस्थों को निगोदादि से संज्ञी पंचेंद्रिय तक जीवों को ध्यान है, यह सिध्द हुआ।

इत्यार्तरौद्रं गृहिणामजस्त्रं ध्याने सुनिन्द्ये भवतः स्वतोऽपि।
परिग्रहारम्भकषायदोषैः कलङ्किकतेऽन्तःकरणे विशंकम् ॥ ४१ ॥
प्रकरण २६

अर्थ - इस प्रकार का आर्त्त और रौद्र ध्यान गृहस्थों के परिग्रह आरंभ और कषायादि दोषों से **मलिन अंतःकरण में** स्वयमेव निरंतर होते हैं इसमें कुछ भी शंका नहीं है। यह आर्त्त रौद्र ध्यान निन्दनीय हैं।

क्षायोपशमिको भावः कालश्चान्तर्मुहूर्तकः।
दुष्टाशयवशादेतदप्रशस्तावलम्बनम् ॥ ३९ ॥
प्रकरण २८

अर्थ - यह क्षायोपशमिकभाव है इसका काल अंतर्मुहूर्त है और दुष्ट आशय के वश से अप्रशस्त का (पर पदार्थ का) अवलंबन करनेवाला है।

अब धर्मध्यान का स्वामी चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीव भी है यह दिखाते हैं -

किंच कैश्चिच्च धर्मस्य चत्वारः स्वामिनः स्मृताः।
सद्दृष्ट्याद्यप्रमत्तान्ता यथायोग्येन हेतना ॥ २८ ॥
प्रकरण २८

अर्थ - यथायोग्य हेतु से अविरत सम्यक्त्वी, देशविरत सम्यक्त्वी, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्त संयत यह चार गुणस्थानवर्ती जीव धर्मध्यान के स्वामी हैं ऐसा कितने ही (अनेक) आचार्यों द्वारा कहा गया है।

इसके पहले श्री नागसेनमुनि विरचित तत्वानुशासन का श्लोक नं. ४६ उद्धृत किया ही है। श्री पूज्यपादाचार्य सर्वार्थसिध्दि में अध्याय ९, सूत्र नं. ३६ की टीका में लिखते हैं कि-**''तदविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतानां भवति''**।

अर्थ - वह धर्मध्यान अविरतसम्यक्त्वी देशविरत सम्यक्त्वी, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत इनको होता है।

१३) शंका - शुध्दात्मानुभूति शुक्लध्यान में ८ वें गुणस्थान से होती है, उसी प्रकार धर्मध्यान में शुध्दात्मानुभूति होती है; तो धर्मध्यान में और शुक्लध्यान में समानता होती है क्या ?

उत्तर - चतुर्थ गुणस्थान में होनेवाली शुध्दात्मानुभूति और पंचम गुणस्थान, सप्तमगुणस्थान और अपूर्वकरण (आठवें) गुणस्थानादि और सिध्दभगवान इनको होनेवाली शुध्दात्मानुभूति जाति अपेक्षा से समान है।

देखो 'ज्ञानार्णव' ग्रंथ में शुध्दोपयोग अधिकार (प्रकरण नं. २९) में श्री शुभचंद्राचार्यजी लिखते हैं कि -

इति साधारणं ध्येयं ध्यानयोर्धर्मशुक्लयोः।
विशुध्दिः स्वामिभेदेन भेदः सूत्रे निरूपितः ॥ १०४ ॥

१) जीवराज ग्रंथमाला सोलापूर प्रकाशन २) आगास प्रकाशन ३२

अर्थ - इस प्रकार धर्मध्यान और शुक्लध्यान में साधारण ध्येय (समान ध्येय याने ध्यान के योग्य आत्मतत्व कारणपरमात्मा-निजस्वभाव शुध्द आत्मा अथवा शुध्दपारिणामिक भाव) समान ही है। उसमें स्वामियों के भेद से होनेवाली विशुध्दि विविध प्रकार की होती है। इस स्वामीभेद की प्ररूपणा आगम में की गयी है।

धर्मध्यान में और शुक्लध्यान में इस प्रकार ध्यान किया जाता है कि-

यः सिध्दात्मा परः सोऽहं योऽहं स परमेश्वरः।
मदन्यो न मयोपास्यो मदन्येन तु नाप्यहम् ॥ ४५ ॥
(ज्ञानार्णव, प्रकरण - २९)
आगास प्रकाशन ३२

अर्थ - जो सिध्द परमात्मा है वह मैं हूँ, और जो मैं हूँ वह सिध्दपरमात्मा है। न मेरे द्वारा मुझसे भिन्न दूसरा कोई आराधनीय है और न मैं ही मुझसे भिन्न दूसरे के द्वारा आराधनीय हूँ। तात्पर्य यह है कि यथार्थ में (निश्चयनय से) मैं स्वयं परमात्मा हूँ। इसलिये निश्चयनय से मैं ही उपास्य (आराधनीय) और मैं ही उपासक (आराधक) हूँ। उपास्य और उपासक में कोई भेद नहीं है।

इसलिये जैसे धर्मध्यान में अपने निजस्वभाव का (पारिणामिक भाव का) ध्यान किया जाता है वैसे ही शुक्लध्यान में भी अपने निजस्वभाव का (पारिणामिकभाव का) ध्यान किया जाता है। इस पारिणामिक भाव के

चिंतवन को शुध्दोपयोग, शुध्दात्मानुभूति, निश्चय रत्नत्रय, निर्विकल्प समाधि, शुध्दध्यान, सत्‌ध्यान, इत्यादि कहते हैं।

श्री जिनसेनाचार्यजी महापुराण में पर्व २१, श्लोक ११ में लिखते हैं किं -

धीबलायत्तवृत्तित्वाद्ध्यानं तज्ज्ञैर्निरुच्यते।
यथार्थमभिसन्धानादपध्यानमतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

अर्थ - बुध्दिपुर्वक (बुध्दि के आश्रय से) यथार्थ के साथ वस्तुस्वरूप का ज्ञान करके निजस्वभाव शुद्धपरमात्मा (पारिणामिकभाव - कारण परमात्मा) के साथ अभिसंधान करने पर ध्यान अथवा सत्‌ध्यान अथवा शुध्दात्मानुभूति होती है। और बुध्दिपूर्वक (बुध्दि के आश्रय से) अन्यथा याने अयथार्थ के साथ (वस्तुस्वरूप का ज्ञान करके या वस्तुस्वरूप का ज्ञान न करके स्व द्रव्य गुण पर्याय के भेद के साथ अथवा अन्य द्रव्यों के द्रव्य गुण पर्याय के साथ) अभिसंधान करने पर जो ध्यान होता है वह अपध्यान (असत् ध्यान अथवा अशुध्दात्मानुभूति) है। इस प्रकार से ज्ञानियों ने कहा है। याने बुध्दिपूर्वक जो विचार किया वह ध्यान है। ध्यान के (१) सत्, और (२) असत् ऐसे भेद हैं, असत् के (१) शुभ, और (२) अशुभ ऐसे भेद हैं।

इसी बात को श्री कुंदकुंदाचार्यजी प्रवचनसार गाथा नं. १८१ में कहते हैं, देखो -

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावं ति भणिदमण्णेसु।
परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये ॥ १८१ ॥

अर्थ - पर के प्रति (दूसरों के बारे में) शुभ परिणाम पुण्य है और पर के प्रति (दूसरों के बारे में) अशुभ परिणाम पाप है। और जो परिणाम दूसरों के प्रति नहीं जाता ऐसा परिणाम उसी समय दुखः क्षय का (संवरपूर्वक निर्जरा का-शुध्दात्मानुभूति का- परमानंद का-निराकुलता का) कारण है, ऐसा कहते हैं।

अपने निजस्वभाव शुध्दात्मा (पारिणामिकभाव) से अन्य द्रव्यों में (अपने आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद में अथवा अन्य द्रव्यों के द्रव्य-गुण पर्याय में) शुभपरिणाम पुण्य है; और अपने निज स्वभाव शुध्दात्मा (पारिणामिकभाव) से अन्य द्रव्यों में (अपने आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद में अथवा अन्य द्रव्यों के द्रव्य-गुण-पर्याय में) अशुभ परिणाम पाप है। और जो परिणाम निज स्वभाव शुध्दात्मा में (पारिणामिकभाव में) रहता है याने पर में जाता नहीं है वह शुध्दोपयोग परिणाम उसी समय दुःख क्षय का (शुध्दात्मानुभव का परमानंद का) कारण है।

इससे यह सिध्द होता है कि- शुभ और अशुभ भावों को असत् (अशुध्द) ध्यान कहते हैं और शुध्दोपयोग- शुध्दभाव को सत् (शुध्द) ध्यान कहते है।

बुध्दिपूर्वक शुध्दनय के विषय का (अपने निजस्वभाव की दृष्टि से अखंड आत्मा का) चिंतवन करने से शुध्दात्मा की उपलब्धि होती है। बुध्दिपूर्वक अशुध्दनय के विषय का चिंतवन करने से अशुध्दात्मा की उपलब्धि होती हैं।

देखो श्री कुंदकुंदाचार्यजी समयसार में लिखते हैं कि -

सुध्दं तु वियाणंतो सुध्दं चेवप्पयं लहदि जीवो।
जाणंतो दु असुध्दं असुध्दमेवप्पयं लहइ ॥ १८६ ॥

अर्थ - शुध्द आत्मा को (स्वभाव को- पारिणामिकभाव को) जानता हुआ जीव शुध्द ही आत्मा को पाता है, और अशुध्द आत्मा को जानता हुआ जीव अशुध्द आत्मा को पाता है।

अव्रती गृहस्थ भी अपने निज शुध्दात्म स्वभाव का चिंतवन करता है और उस को शुध्दात्मानुभव होने से संवरपूर्वक निर्जरा होती है।

देखो सर्वार्थसिध्दि अध्याय ९, सूत्र २८ की टीका में लिखा है -

आर्त्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि ॥ २८ ॥
तदेतच्चर्विधं ध्यानं द्वैविध्यमश्नुते कुतः ? प्रशस्ताप्रशस्तभेदात्।

आर्त्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल ये चार ध्यान हैं। उनमें से आर्त्त रौद्र को अप्रशस्त (अशुध्द-असत्) ध्यान कहते हैं और धर्म शुक्ल को प्रशस्त (शुध्द -सत्) ध्यान कहते हैं। इस प्रकार ध्यान के दो प्रकार होते हैं।

' कर्मदहनसामर्थ्यात् प्रशस्तम् '

कर्मदहन की सामर्थ्य होने से धर्म और शुक्ल ध्यान को प्रशस्त कहते हैं। इस से सिध्द होता है कि धर्मध्यान से संवरपूर्वक निर्जरा होती है। सम्यक्त्वी अविरती गृहस्थ के धर्मध्यान होने से संवरपूर्वक निर्जरा होती है। धर्म याने वस्तु का स्वभाव। अपने निज शुध्दात्म स्वभाव का जो ध्यान वह धर्मध्यान है। उस को ही शुध्दध्यान, सत्ध्यान, शुध्दोपयोग कहते हैं। उस धर्मध्यान की (शुध्दात्मानुभूति की) अधिकतर दढता होने से वह जीव सकल संयमी होता है। उसी स्वभाव के ध्यान की जब अधिकतम दृढता बन जाती है, और अधिकतम स्थिरता होती है, उसे शुक्लध्यान कहते हैं।

पहले पृष्ठ नं. २७ पर यह बताया है कि धर्मध्यान और शुक्लध्यान में अपने निज स्वभाव का ध्यान है।

१४) शंका - अव्रती गृहस्थ निजस्वभाव का (अपने पारिणामिकभाव का) चिंतवन कर सकता है क्या ?

उत्तर - अव्रती गृहस्थ जीव भी अपने निजस्वभाव का चिंतवन कर सकता है। देखो महापुराण पर्व २१, श्लोक नं. २१

किमत्र बहुना यो यः कश्चिद्भावः सपर्ययः।
स सर्वोऽपि यथाम्नायं ध्येयकोटिं विगाहते ॥ २१ ॥

अर्थ - ध्यान में विषय कौनसा होता है, इस के बारे में ज्यादा विचार करने का कारण नहीं है। यथा आम्नाय जगत का कोई भी पदार्थ, उसके द्रव्य-गुण-पर्याय ध्येयकोटिमें (ध्यान में) आते हैं।

इसलिये अव्रती गृहस्थ जीव अपने निजस्वभाव का ध्यान कर सकता है।

इतना ही नहीं, किसी भी अवस्था में (बैठे हुए, लेटे हुए अथवा अर्धपद्मासन, पद्मासन, खड्गासनादि में) ध्यान हो सकता है। देखो, महापुराण पर्व २१, श्लोक ७५

देहावस्था पुनर्यैव न स्याद्ध्यानोपरोधिनी।
तदवस्थो मुनिर्ध्यायेत् स्थित्वासित्वाधिशय्य वा ॥ ७५ ॥

इसलिये अव्रती गृहस्थ भी वस्तु स्वरूप को जानकर अपने स्वभाव का (शुध्दनय के विषय का) जब चिंतवन करता है तब सम्यक्त्व होता है। देखो समयसार गाथा नं. ११

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुध्दणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥ ११ ॥

अर्थ - व्यवहारनय अभूतार्थ (आश्रय करने योग्य नहीं) है, और शुध्दनय भुतार्थ है ऐसा ऋषीश्वरों ने दिखाया है। जो जीव भूतार्थ का आश्रय करता है वह जीव निश्चयकर सम्यग्दृष्टि होता है।

इस से सिध्द होता है कि अव्रती गृहस्थ जीव वस्तुस्वरूप जानकर शुध्दनय का आश्रय करता है (ध्यान करता है, शुध्दात्मानुभव करता है) और वह उसी समय सम्यक्त्वी होता है।

जो जीव अनादि मिथ्यादृष्टि है, अव्रती गृहस्थ है वह वस्तुस्वरूप को जानकर जब शुध्दनय का चिंतवन करता है तब शुध्दत्मानुभव निर्विकल्प होता है, उसी समय दर्शनमोह का उपशम होता है, प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है, सम्यग्ज्ञान होता है, शुध्दोपयोग होता है। वहाँ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और स्वरूपाचरणचारित्र (शुध्दोपयोग) होने में समय भेद नहीं। यह ही प्रवचनसार गाथा नं. ८० की तात्पर्यवृत्ति में श्री जयसेनाचार्यजी ने दिखाया है। इसका उध्दरण पृष्ठ नं. ६ पर दिया है।

जो सादि मिथ्यादृष्टि अव्रती जीव है वह भी शुध्दात्मानुभूति से ही (शुध्दोपयोगसे ही) प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है। उसके बाद क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है; और कोई सादि मिथ्यात्वी अव्रती जीव भी शुध्दात्मानुभूति से क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है।

क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करने के बाद अव्रती जीव भी क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं। उदाहरण. श्रेणिक ने नरकगति का बंध करने के बाद क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त किया। उसके बाद अव्रती रहते हुए क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया। इसलिये व्रत लेने के बाद ही शुध्दात्मानुभूति होती है ऐसा नहीं है और शुध्दात्मानुभूति से शुभाशुभावों का संवर होता है।

देखो तत्वार्थ सूत्र अध्याय ६, सूत्र १, २, ३

कायवाङ्मनःकर्म योगः ॥ १ ॥ स आस्त्रवः ॥ २ ॥
शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ॥ ३ ॥

शुभभाव से और अशुभ भाव से आस्त्रव होता है। मोक्षमार्ग तो शुभाशुभ भावों के संवरपूर्वक होता है; और सम्यग्ददर्शन से मोक्षमार्ग शुरु होता है। शुध्दात्मानुभूति से (शुध्दोपयोग से) मोक्षमार्ग शुरु होता है। मिथ्यात्वगुणस्थान में संवरपूर्वक निर्जरा नहीं होती।

१५) शंका - तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय ६, सूत्र नं. २१

सम्यक्त्वं च ॥ २१ ॥

सम्यक्त्व को देवगतिका कारण कहा है, यह कैसे कहा है ?

उत्तर - सम्यक्त्व प्राप्त होते समय शुध्दोपयोग होता है, उसी समय शुध्दात्मानुभूति (निर्विकल्पता) होती है याने सम्यग्ज्ञान होता है। उसके बाद

टीप - १ बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ४३ की टीका - **'मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने तावत् संवरो नास्ति'**।

श्रध्दा सम्यक् वैसी की वैसी रहती है, और वह सम्यग्ज्ञान सविकल्प होता है। चारित्र में अशुध्दोपयोग आता है तब सम्यक्त्व के साथ जो अप्रत्याख्यानादि कषायरूप शुभराग है वह शुभभाव देवगति के बंध का कारण है। सम्यग्दर्शनवाली शुध्दधारा अथवा शुध्दज्ञानधारा बंध का कारण नहीं है। अविरत सम्यक्त्वी को ४३ प्रकृतियों के बंध का अभाव है याने अविरत सम्यक्त्वी को ४३ प्रकृतियों का संवर है। देखो तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय ९, सूत्र नं. १

आस्रवनिरोधः संवरः।

आस्रव के निरोध को संवर कहते हैं।

१६) शंका - तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय ९, सूत्र नं. २ और ३

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ॥ २ ॥
तपसा निर्जरा च ॥ ३ ॥

वह संवर गुप्तिसमिती इत्यादि द्वारा होता है; और तप के द्वारा संवरपूर्वक निर्जरा होती है; और आपने आगमों के उध्दरणों के द्वारा यह सिध्द किया है कि अविरत सम्यक्त्वी को संवर होता है। तो तत्त्वार्थ सूत्र के कथनों के साथ इस का मिलान कैसे हो ?

उत्तर - देखो बृहद्द्रव्य संग्रह गाथा नं. ३५ की टीका में श्री ब्रम्हदेवजी लिखते हैं कि -

निश्चय	**व्यवहार**
१) निश्चयेन विशुध्दज्ञानदर्शन स्वभावनिजात्मतत्त्वभावनोत्पन्नसुख सुधास्वादबलेन समस्तशुभाशुभ रागादिविकल्पनिवृत्तिर्व्रतम्।	**१)व्यवहारेण तत्साधकं हिंसानृत-स्तेयाब्रम्हपरिग्रहाच्च यावज्जीव-निवृत्तिलक्षणं पञ्चविधं व्रतम्।**
निश्चय से विशुध्दज्ञान दर्शन स्वभावी निजात्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न	व्यवहार से साधक हिंसा, असत्य, चोरी,अब्रम्ह और परिग्रह के आजीवन

सुखरूपी सुधा के आस्वाद के बल से सब शुभाशुभ रागादि विकल्पोंकी जो निवृत्ति वह व्रत है।

२) निश्चयेनानन्तज्ञानादि स्वभावे निजात्मनि सम् सम्यक् समस्तरागादिविभावपरित्यागेन तल्लीनतच्चिन्तनन्मयत्वेन अयनं गमनं परिणमनं समितिः

निश्चय से अनंतज्ञानादि-स्वभावी निजात्मा में सम् अर्थात् सम्यक् प्रकार से सब रागादि विभावोके परित्याग द्वारा निजात्मा में लीनता- चिंतन- तन्मयता से 'अयन' - गमन परिणमन करना वह समिति है।

३) निश्चयेन सहज-शुद्धात्म भावनालक्षणे गूढस्थाने संसारकारण रागादिभयात्स्व-स्यात्मनो गोपनं प्रच्छादनं झम्पनं प्रवेशनं रक्षणं गुप्तिः।

निश्चय से सहजशुद्धात्माकी भावनारूपलक्षणयुक्त गुप्त संस्थान में (अपने निजपारिणामिकभाव में) संसार के कारणरूप रागादि के भयों से अपने आत्माका छिपाना, ढकना, झम्पना, प्रवेश करना, अथवा रक्षा करना वह गुप्ति है।

त्यागलक्षणरूप पांच प्रकार के व्रत हैं।

२)व्यवहारेण तद्बहिरंग सहकारिकारणभूताचारादिचरणग्रन्थोक्ता ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गसंज्ञा : पञ्च समितियाः।

व्यवहार से उसके बहिरंग सहकारि कारणभूत आचारादि चरणानुयोग के ग्रन्थों में कथित ईर्या, भाषा एषणा, आदान निक्षेपण और उत्सर्ग नामक पांच समितियाँ हैं।

३) व्यवहारेण बहिरङ्गसाधनार्थं मनोवचनकाय व्यापार निरोधो गुप्तिः।

व्यवहार से बहिरंग साधन के लिये मन वचन और काया के व्यापार को रोकना वह गुप्ति है।

४) निश्चयेन संसारे पतन्त-मात्मानं धरतीति विशुद्धज्ञानदर्शन लक्षणनिजशुद्धात्म भावनात्मको धर्मः

निश्चय से जो संसार में पडते हुए आत्मा को धारण करके रखता है वह विशुद्धज्ञानदर्शनलक्षणमय निजशुद्धात्मा की भावनारूप धर्म है।

इत्यादि।

४) व्यवहारेण तत्साधनार्थं देवेन्द्रनरेन्द्रादिवन्द्यपदे धरतीत्युत्तम क्षमामार्दवार्जवसत्यशौच संयम तपस्त्यागा किञ्चन्यब्रह्मचर्यलक्षणो दशप्रकारो धर्म :

व्यवहार से उसके साधन के लिये देवन्द्र, नरेन्द्र आदि द्वारा वन्द्यपदमें जो धरता है, पहुंचाता है वह उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रम्हचर्य रूप दस प्रकार का धर्म है।

इत्यादि।

अब देखो प्रवचनसार गाथा नं ९ की टीका में श्री जयसेनाचार्यजी लिखते हैं कि -

" व्यवहारेण . . तपोधनापेक्षया तु मूलोत्तरगुणादिशुभानुष्ठानेन परिणतः शुभो ज्ञातव्य इति " ।

याने व्यवहार से तपोधन की अपेक्षा से मूलोत्तरगुणादिशुभानुष्ठान से परिणत भाव शुभभाव (शुभोपयोग) है ऐसा जानो। तो मूलोत्तर गुणों में गुप्ति इत्यादि आ जाने से व्यवहाररूप व्रत, गुप्ति, समिति, धर्म इत्यादि शुभभाव सिद्ध हुए। शुद्धात्मानुभूति (अपने निज स्वभाव की भावना) ही संवर का कारण है। शुद्धात्मानुभूति से संवरपूर्वक निर्जरा होती है। इसलिये व्यवहाररूप व्रत, गुप्ति इत्यादि को उपचार से संवर का कारण कहा है। याने व्यवहाररूप व्रत, गुप्ति इत्यादि से शुभभाव होने से, पुण्यास्रव होता हैं। याने व्यवहाररूप व्रत गुप्ति इत्यादि निश्चय से संवर पूर्वक[१] निर्जरा के कारण नहीं है। शुद्धात्मानुभूति लेते समय (अपने पारिणामिकभाव की भावना करते समय) जो अपने आत्मगुणों का प्रतपन होता है वह तप है। इसलिए शुद्धात्मानुभव से

(शुद्धोपयोग से) संवरपूर्वक निर्जरा होती है। शुद्धात्मानुभूतिवाला अव्रती जीव भी आत्मानुभूति से रहित जिनलिंगधारी (द्रव्यलिंगी) मुनि से श्रेष्ठ है। देखो पृ. नं १७.

१७) शंका - तो यह निर्विकल्प आत्मानुभव (चिंतानिरोध) अव्रती गृहस्थ को कैसा होता है ? शुद्धात्मानुभूति में विषय कौनसा है ?

उत्तर - देखो तत्त्वानुशासन श्लोक नं. ५८,६३,६४,६५,५४

द्रव्यपर्याययोर्मध्ये प्राधान्येन यदर्पितम्।
तत्र चिंतानिरोधो यस्तद्ध्यानं बभणुर्जिनाः ॥ ५८ ॥
द्रव्यार्थिकनयादेकः केवलो वा तथोदितः।
अंतःकरणवृत्तिस्तु चिंतारोधो नियंत्रणा ॥ ६३ ॥
अभावो वा निरोध : स्यात्स च चिंतांतरव्ययः।
एकचिंतात्मको यद्वा स्वयंविच्चिंतयोज्झितः ॥ ६४ ॥

अर्थ - द्रव्य और पर्याय में प्रधानता से (द्रव्य से-निश्चय से) जो अर्पित होता है उस निश्चय के विषय का जो ध्यान होता है वह चिंतानिरोध ध्यान (निर्विकल्प शुध्दात्मानुभव) है ऐसा जिनेंद्र भगवान कहते हैं।

टीप - १. समयसार तात्पर्यवृत्ति- पुण्यपापाधिकार की समुदाय पातनिका - **अध्यात्मभाषया शुध्दात्मभावनां विना आगमभाषयां तु वीतराग सम्यक्त्वं विना व्रतदानादिकं पुण्यबन्धकारणमेव न च मुक्तिकारणं।**

टीप नं. १ का अर्थ - अध्यात्मभाषा से शुध्दात्मभावना रहित व्रत दानादिक पुण्यबंध के ही कारण हैं, मुक्ति के कारण नहीं हैं; और आगमभाषा से वीतरागसम्यक्त्वरहित व्रत दानादिक पुण्यबंध के ही कारण हैं, मुक्ति के कारण नहीं हैं।

द्रव्यार्थिकनय से यह आत्मा केवल एक ही है। उसे जानना यथोदित है। उस अंतःकरणवृत्ति को चिंतारोध नियंत्रणा कहते हैं।

अथवा अभाव को निरोध कहते हैं और अन्य चिंताओं का नाश होना, अभाव अथवा निरोध कहलाता है। अथवा अन्य चिंताओं से रहित जो एक चिंतात्मक एक चिंतारूप (चिंतवनरूप) अपने आत्मस्वभाव का ज्ञान वह भी एक अग्र आत्मा कहलाता है।

तत्रात्मन्यसहाये यच्चिंतायाः स्यान्निरोधनम् ।
तद्ध्यानं तदभावो वा स्वसंधित्तिमयश्च सः ॥ ६५ ॥

अर्थ - उस स्वभावरूप असहाय (पारिणामिकभाव) एक अपने आत्मा में चिंतवन करने से चिंता का निरोध होता है, वह ध्यान चिंता का (विकल्प का) अभाव करता है और वह स्वस्वभाव में स्वसंवित्तिमय (स्वानुभूतिमय) होता है।

ततोऽनपेतं यज्ज्ञानं तध्दर्म्यं ध्यानमिष्यते ।
धर्मो हि वस्तुयाथात्म्यमित्यार्षेऽप्यभिधानतः ॥ ५४ ॥

अर्थ - वस्तुस्वरूप को जानकर आत्मस्वभाव को जो जानता है उस आत्मानुभूति से अनपेत (अविनाभावी) जो ज्ञान उस से जो प्राप्त होता है उसे धर्मध्यान (शुध्दात्मानुभव कहते हैं। क्योंकि वस्तु के याथातमय स्वरूप को जानना ही आर्षग्रन्थों में धर्म कहा गया है। इस से सिध्द हुआ कि अव्रती गृहस्थ स्वरूप को जानकर अपने स्वभाव का ध्यान कर सकता है और उस ध्यान को धर्मध्यान (शुध्दात्मानुभव - चिंतानिरोध) कहते हैं।

१८) शंका - अविरत सम्यक्त्वी की शुध्दात्मानुभूति और देशविरत सम्यक्त्वी की शुध्दात्मानुभूति और भावलिंगी सकलसंयमी की शुध्दात्मानुभूति- इन में फर्क क्या है ?

उत्तर - अविरत सम्यक्त्वी की शुध्दात्मानुभूति, देशविरत समयक्त्वी की शुध्दात्मानुभूति और भावलिंगी सकलसंयमी की शुध्दात्मानुभूति जाति अपेक्षा से समान है लेकिन गुणस्थान की अपेक्षा से, दढता की-स्थिरताकी अपेक्षा से अंतर है।

देखो तत्त्वानुशासन श्लोक नं. ४९ -

सामग्रीतः प्रकृष्टया ध्यातरि ध्यानमुत्तमम् ।
स्याज्जघन्यं जघन्याया मध्यमायास्तु मध्यमम् ॥ ४९ ॥

अर्थ - सकलसंयमवाले के पास उत्कृष्ट सामग्री रहने से उत्तम शुध्दात्मानुभूति है । देशसंयमवाले के पास मध्यम सामग्री रहने से मध्यम शुध्दात्मानुभव है और अविरत सम्यक्त्वी के पास जघन्य सामग्री होने से जघन्य शुध्दात्मानुभव होता है ।

चतुर्थगुणस्थान में सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तीनों हैं । देखो प्रमेयकमलमार्तंड - अ २, सूत्र १२, पृष्ठ २४५,

तथाहि यस्य तारतम्यप्रकर्षस्तस्य क्वचित्परमप्रकर्षः यथोष्णस्पर्शस्य, तारतम्यप्रकर्षश्चासंयतसम्यग्दृष्ट्यादौ सम्यग्दर्शनादेरिति ।

जिस वस्तुका तरतमरूप से प्रकर्ष होता है, उस का किसी में तो अवश्य परम प्रकर्ष होता है । जैसे उष्ण स्पर्श में तरतमता और प्रकर्ष दिखाई देता है । इसी तरह असंयम सम्यग्दृष्टि में सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र जघन्यरूप से हैं । वह रत्नत्रय ही आगे के गुणस्थानों में प्रकर्ष को बढता हुआ परम प्रकर्ष को प्राप्त होता है ।

इस के संदर्भ में देखो - क्षु. १०५ मनोहरवर्णी (सहजानंदवर्णी) के परिक्षामुखसूत्र पर प्रवचन - (भाग ८, ९, १०, पृष्ठ - २९२) " चौथे गुणस्थान में **रत्नत्रय की छोटी** अवस्था है, फिर ऊपर के गुणस्थानों में **रत्नत्रय ऊँचा** बढ जाता है । "

इसलिये अविरत सम्यक्त्वी को शुध्दात्मानुभव है और मिथ्यात्वी को शुध्दात्मानुभव नहीं है ।

१९) शंका - प्रवाचनसार गाथा नं १४ में शुध्दोपयोग परिणत आत्मस्वरूप का निरूपण करते हैं -

सुविदिदपयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो ।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुध्दोवओगो त्ति ।। १४ ।।

यहाँ तो समण को याने मुनि को शुध्दोपयोगी कहा है और आप शुध्दोपयोग से चतुर्थ गुणस्थान प्रगट होता है, ऐसा कहते हो । वह कैसे ?

उत्तर - शुध्दोपयोग से (शुध्दात्मानुभूति से) चतुर्थ गुणस्थान प्रकट होता है इस में बाधा आती नहीं, क्योंकि चतुर्थगुणस्थान में जघन्य शुध्दात्मानुभूति है, और वह शुद्धात्मानुभूति देश विरत में मध्यम शुद्धात्मानुभूति है, और उत्कृष्ट सकलसंयमी को होती है । इस प्रकार का जो कथन किया है वह पूर्वापर आचार्यों के कथन को वाधा नहीं देता ।

शुध्दात्मानुभूति से (शुध्दोपयोग से) चतुर्थ गुणस्थान प्रगट होता है; यह न मानने से क्या बाधा आती है यह पूर्व में विवेचन करके दिखाया है ।

२०) शंका - यदि चतुर्थगुणस्थान में शुध्दात्मानुभव होता है, तब कोई व्रती नहीं बनेंगे ?

उत्तर - जिस व्यापार से आप को लाभ होता है वह व्यापार आप ज्यादा करते हो । जिस क्रिया से आप को आनंद मिलता है वह क्रिया यह जीव अपने आप बार-बार करता है । ज्यों-ज्यों परमानंद मिलेगा त्यों-त्यों आकुलता कम-कम हो जाती है । ज्यों-ज्यों शुध्दात्मानुभव होगा त्यों-त्यों अशुध्दात्मानुभव (विषयकषायभाव) दूर होता ही है ।

देखो श्री पूज्यपादाचार्यजी इष्टोपदेश में लिखते हैं कि -

यथा यथा समायति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ।
तथा तथा न रोचन्ते विषयाः सुलभाः अपि ।। ३७ ।।

अर्थ - जैसे-जैसे शुध्दात्मानुभव (शुध्दोपयोग) होता है वैसे-वैसे विषय सुलभ होते हुए भी विषयों में रुचि नहीं रहती ।

जब शुध्दात्मानुभव में अधिक दृढता होगी तब वह जीव ' अपने आप व्रती हो जाता है, व्रती बनना नहीं पडता । ' कोई जीव इसी भव में अव्रती गृहस्थ अवस्था में शुध्दात्मानुभव करेगा और आगे के किसी भव में व्रती होगा । उदाहरणार्थ - श्रेणिक ने मनुष्यभव में शुध्दात्मानुभव किया अभी नरक में है तो भी शुध्दात्मानुभव करता है । आगे के मनुष्यभव में वह जीव व्रती बनेगा और मोक्ष जायेगा ।

कोई जीव इसी भव में अव्रती गृहस्थ अवस्था में शुध्दात्मानुभव करेगा, कुछ काल बाद उसी भव में व्रती बनेगा । जैसे भरत चक्रवर्ती के ९२३ पुत्र तो जन्मते समय अनादि मिथ्यात्वी थे । उस के बाद प्रथमोपशम सम्यंक्त्व (शुध्दात्मानुभव) प्राप्त किया । कुछ काल के बाद क्षयोपशम-क्षायिकसम्यक्त्वी (शुध्दात्मानुभवी) हुए ।उस के बाद महाव्रती हुए और उसी भव से मोक्ष गये ।

सीता जन्म के समय मिथ्यात्वी थी, उस के बाद उसने शुध्दात्मानुभव प्राप्त किया उस के बाद उसने देशसंयम प्राप्त किया ।

२१) शंका - ऐसा कहते हैं कि, धवलाकार ने दशवें गुणस्थान तक धर्मध्यान माना है, तो शुध्दात्मानुभूतिवाला (स्वभाव का) धर्मध्यान केवल सकलसंमयी को होता है । अविरत सम्यक्त्वी में और देशविरत सम्यक्त्वी में स्वभाव के ध्यान का (धर्मध्यान का) खपुष्पवत् अभाव है, ऐसा मानेंगे तो क्या बाधा आती है ?

उत्तर - तो आपकी इस मान्यते से (१) चतुर्थगुणस्थानवाले को और देशसंयमी को निश्चय सम्यक्त्व नहीं है, ऐसा सिध्द होगा । यह बात धवलाकार को (श्री वीरसेनाचार्यजी को) मान्य नहीं, क्योंकि उन्होंने धवल पुस्तक १३ में पृष्ठ ७४ पर लिखा है कि --

' असंजदसम्मादिट्ठी-संजदासंजद-पमत्तसंजदअप्पमत्तसंजद-अप्पुव्व-संजद-अणियट्टिसंजद सुहुमसांपराईयरववगोवसामएसु धम्मज्झाणस्स पवुत्ती होदित्ति जिणोवएसादो । '

याने असंयत सम्यक्त्वी, देशसंयत सम्यक्त्वी, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत तथा क्षपक और उपशमकवाले आठ से दस गुणस्थानवर्तियों को धर्मध्यान में प्रवृत्ति होती है, ऐसा जिनदेव का उपदेश है।

धवल पुस्तक १३ - पृष्ठ ७४ पर वे लिखते हैं कि -

' .... दोण्णं पि ज्झाणाणं विसयं पडि भेदाभावादो। ... ' एदेहि दोहि वि सरूवेहि दोण्णं ज्झाणाणं भेदाभावदो किंतु धम्मज्झाणमेयवत्थुम्हि थोवकालावट्ठाइ।'

याने धर्मध्यान और शुक्लध्यान इन दोनों ही ध्यानों में विषय की अपेक्षा कोई भेद नहीं है। ... दोनों (धर्मध्यान और शुक्लध्यान इन दोनों में स्वरूप की अपेक्षा कोई भेद नहीं है, किन्तु इतनी विशेषता है कि धर्मध्यान एक वस्तु में अल्प काल तक रहता है। श्री वीरसेनाचार्यजी ने ऐसा कथन किया है कि अव्रती गृहस्थ को प्रथमोपशम सम्यक्त्व, क्षयोपशम सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व होता है - धवल पुस्तक १, पृष्ठ ३९६ -

त्रिष्वपि सम्यग्दर्शनेषु यः साधारणः अंशः तत्सामान्यम्।
तत्र यथार्थश्रध्दानं प्रति साम्योपलम्भात्।

अर्थ - तीनों (उपशम, क्षयोपशम, क्षययिक) सम्यग्दर्शनों में जो साधारण धर्म है वह सामान्य है।

शंका - क्षायिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक सम्यग्दर्शनों में परस्पर भिन्न-भिन्न होनेपर सदृशता कैसे ?

उत्तर - उन तीनों में सदृश्यता नहीं, ऐसा नहीं है, क्योंकि उन तीनों में यथार्थ श्रध्दान के प्रति समानता पाई जाती है।

प्रथमोपशम सम्यक्त्ववाला अव्रती गृहस्थ भी ४३ प्रकृतियों का बंध नहीं करता (याने संवर करता) है, ऐसा धवलाकार का कथन है। इसलिये एकदेश शुध्दि अविरत सम्यक्त्वी को है। २) अव्रती गृहस्थ स्वभाव को (ध्रुव को) जानता नंहीं है, यह कहना बाधित है, क्योंकि जिनागम का अभ्यास

करनेवाला जीव औदयिक भाव, औपशमिक भाव, क्षायोपशमिकभाव, क्षायिकभाव और पारिणामिक भावों को जानता है। द्रव्य का लक्षण सत् है और सत् का लक्षण-उत्पाद-व्यय-ध्रुवयुक्त है, यह जानता है।

२२) शंका - उत्पाद-व्यय-ध्रुव में जो ध्रुव है वह विकलादेशी (अंश) है। उस विकलादेशी ध्रुव को अव्रती गृहस्थ जानता है, लेकिन सकलादेशी ध्रुव की दृष्टि से अखंड द्रव्य को नहीं जानता, ऐसा मानेंगे तो क्या बाधा आती है ?

उत्तर - देखो अष्टसहस्त्री-अध्याय ३, पृष्ठ २११-२१२.

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोकप्रमोदमाध्यस्थं जनो याति सहेतुकम् ।। ५९ ।।

अर्थ - सुवर्णघटार्थी, सुवर्णमुकुटार्थी और सुवर्णार्थी क्रमशः सुवर्णघट का नाश होनेपर शोक को, सुवर्णमुकुट के उत्पन्न होने पर हर्ष को और दोनों ही अवस्थाओं में (पर्यायों में) सुवर्ण की स्थिति होने से माध्यस्थ भाव को प्राप्त होता है और यह सब सहेतुक होता है।

भावार्थ - एक सुवर्ण का घट था। उस घट को तोडकर मुकुट बनाया। कोई तीन अव्रती जीव थे। एक को सुवर्ण का घट चाहिये था, दूसरे को मुकुट चाहिये था और तीसरे को सुवर्ण चाहिये था। जब पहले व्यक्ति ने घट का व्यय देखा तो उसे दुःख हुआ। दूसरे व्यक्ति ने मुकुट का उत्पाद देखा तो उसे आनंद हुआ। तीसरे व्यक्ति ने सुवर्ण द्रव्य (ध्रुव) देखा तो वह माध्यस्थ (दुःख और आनंद से रहित) रहा।

श्री विद्यानंदाचार्यजी लिखते हैं कि -

' प्रतीतिभेदं इत्थं समर्थयते सकललौकिकजनस्य आचार्यः । '

श्री समंतभद्राचार्य सब लौकिकजनों के प्रतीति (अनुभूति) के भेद का समर्थन करते हैं (अनुभूति के भेद को दिखाते हैं)।

इससे यह सिध्द होता है कि एक द्रव्य है। उस का सत् लक्षण है। उस ही द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रुव हैं।

घटार्थी जीव ने व्यय की दृष्टि से वह अशेषधर्मात्मक द्रव्य देखा तो उस को दुःख की अनुभूति हुई । मुकुटार्थी जीव ने उत्पाद की दृष्टि से वही अशेषधर्मात्मक द्रव्य देखा तो उस को सुख की अनुभूति हुई ।

सुवर्णद्रव्यार्थी जीव ने ध्रुव (पारिणामिक भाव अथवा द्रव्य) की दृष्टि से उसी अशेषधर्मात्मक द्रव्य को देखा तो उस को माध्यस्थ की- शांत परिणाम की अनुभूति हुई ।

इस में उत्पाद की अनुभूति और व्यय की अनुभूति, इन को पर्याय की अथवा विशेष की अनुभूति कहते हैं , और ध्रुव की अनुभूति को द्रव्य की अथवा सामान्य की अनुभूति कहते हैं ।

इससे यह सिध्द हुआ कि अव्रती गृहस्थ भी ध्रुव की (पारिणामिकभाव की) दृष्टि से अखंड द्रव्य की अनुभूति कर सकता है ।

अपना आत्मा भी एक द्रव्य है । उस अपने आत्मद्रव्य के द्रव्य गुण पर्याय जानकर ध्रुव की दृष्टि से अखंड द्रव्य की अनुभूति अव्रती गृहस्थ भी कर सकता है ।

पर्याय की दृष्टि से अपने आत्मद्रव्य को मैं मनुष्य, स्त्री, पुरुष, संसारी, छद्मस्थ, रागी, मोही, मुनि, अल्पज्ञ इत्यादि पर्यायस्वरूप देखने से सुख दुःख होते हैं, आकुलता होती है, परमानंद नहीं होता । द्रव्य की (अपने निजात्मस्वभाव की) दृष्टि से अपने आत्मद्रव्य को देखने से निराकुलता-परमानंद होता है, मोह-राग-द्वेष नहीं होते ।

देखो परमानंद स्तोत्र में लिखते हैं कि -

सद्ध्यानं क्रियते भव्यैर्मनो येन विलीयते ।
तत्क्षणं दृष्यते शुध्दं चिच्चत्मकारलक्षणम् ।। १० ।।

जो भी भव्य जीव सत् का (अपने निजात्मशुध्दस्वभाव का) ध्यान करता है उसको उसी समय शुध्द चित्चमत्कार लक्षणवाला आत्मा दिखाई देता है (अनुभूति में आता है) जिससे उसी समय मन का (याने संकल्प विकल्प, मोह-राग-द्वेष का) नाश होता है याने शुध्दोपयोग होता है ।

देखो प्रवचनसार गाथा नं. १९१ का शीर्षक और गाथा -

' शुध्दनयात् शुध्दात्मलाभ एव इति अवधारयति '

शुध्दनय से शुध्दात्मा का लाभ ही होता है, ऐसा निश्चित करते हैं।

णाहं होमि परेसिं ण मे परे संति णाणमहमेक्को ।
इदि जो झायदिझाणे सो अप्पाणं हवदिझादा ।। १९१ ।।

अर्थ - मैं परका नहीं हूँ, पर मेरे नहीं हैं, मैं एक ज्ञान हूँ, इस प्रकार (पारिणामिकभाव का) जो ध्यान करता है वह आत्मा ध्यानकाल में आत्मा का (अनुभव करनेवाला) ध्याता होता है।

श्री कुंदकुंदाचार्यजी नियमसार गाथा नं. ९६ में लिखते हैं -

केवलणाणसहावो केवलदंसणसहावसुहमइओ ।
केवलसत्तिसहाओ सोहं इदि चिंतए णाणी ।। ९६ ।।

अर्थ - केवलज्ञानस्वभावी, केवलदर्शनस्वभावी, सुखमय और केवल शक्तिस्वभावी वह मैं हूँ, ऐसा ज्ञानी चिंतवन करते हैं।

इसलिये अव्रती गृहस्थ भी इस प्रकार पारिणामिकभाव का चिंतवन करता है। इस प्रकार से चिंतवन करने में कुछ बाधा नहीं है।

देखो नियमसार गाथा नं. १८ की टीका में कलश नं. ३४

असति सति विभावेऽतम्य् चिंतास्ति नो नः
सततमनुभवामः शुध्दमात्मानमेकम् ।

हृदयकमलसंस्थं सर्वकर्मप्रमुक्तं
न खलु न खलु मुक्तिर्नान्यथास्त्यस्ति तस्मात् ।। ३४ ।।

अर्थ - हमारे आत्मस्वभाव में (पारिणामिक भाव में) विभाव असत् होने से उसकी हमें चिन्ता नहीं है; हम तो हृदयकमल में स्थित सब कर्मो से विमुक्त, शुध्द आत्मा का (अपने निजशुध्द पारिणामिकभाव का) एक का सतत अनुभव करते हैं, क्योंकि अन्य किसी प्रकार से मुक्ति नहीं है, नहीं है।

इस से सिध्द होता है कि अव्रती गृहस्थ पारिणामिकभाव का अनुभव करके सम्यक्त्व प्राप्त करता है और मोक्षमार्गस्थ होता है ।

नियमसार कलश २५, २६ भी देखो -

इति परगुणपर्यायेषु सत्सूत्तमानां
हृदयसरसिजाते राजते कारणात्मा ।
सपदि समयसारं तं परं ब्रम्हरूपं
भज भजसि निजोत्थं भव्यशार्दूल स त्वम् ।। २५ ।।

अर्थ - इस प्रकार परगुणपर्यायों में होनेपर भी, उत्तम पुरुषों के हृदयकमल में कारणात्मा (निजपारिणामिकभाव) विराजमान है । अपने से उत्पन्न ऐसे उस परमब्रम्हरूप समयसार को- कि जिसे तू भज रहा है उसे हे भव्य शार्दूल तू शीघ्र भज, तू वह है ।

क्वचिल्लसति सद्गुणैः क्वचिदशुध्दरूपैर्गुणैः
क्वचित्सहजपर्ययैः क्वचिदशुध्दपर्यायकैः ।
सनाथमपि जीवतत्त्वमनाथं समस्तैरिदं
नमामि परिभावयामि सकलार्थसिध्दये सदा ।। २६ ।।

अर्थ - जीवतत्त्व क्वचित् सद्गुणों सहित विलसता (आविर्भूत) होता है - दिखाई देता है, क्वचित् अशुध्दरूपगुणों सहित विलसता है । क्वचित् सहजपर्यायोंसहित विलसता है और क्वचित् अशुध्दपर्यायों सहित विलसता है । इन सबसे सहित होने पर भी जो इन सबसे विभक्त है, ऐसे इस जीवतत्त्व को (पारिणामिकभाव को) मैं सकल अर्थ की सिध्दि के लिये सदा नमता हूँ, भाता हूँ ।

आगे देखो नियमसार कलश ५८ -

अंचितपंचमगतये पंचमभावं स्मरन्ति विद्वांसः
संचितपंचाचाराः किंचनभावप्रपंचपरिहीनाः ।। ५८ ।।

अर्थ - (ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्यरूप) पांच आचारों से युक्त और किंचन परिग्रहरूप भाव के प्रपंच से सर्वथा रहित ऐसे विद्वान पूजनीय पंचमगति को प्राप्त करने के लिये पंचमभाव का (निजपारिणामिक भाव का) स्मरण करते हैं ।

याने अव्रती गृहस्थ जीव भी अपने निजपारिणामिक भाव का चिंतवन करते हैं ।

२३) शंका - शुध्दनय के और व्यवहानय के पक्षपात से रहित समयसार होता है, ऐसा समयसार गाथा नं. १४२ में कहा है । अव्रती गृहस्थ वस्तुस्वरूप को जानकर शुध्दनय का चिंतवन करेगा तो शुध्दनय का पक्षपात रहता नहीं क्या ?

उत्तर - (१) यहाँ व्यवहारनय का पक्ष (विकल्प) भी छोडना है और व्यवहारनय के विषयभूत अर्थ को भी छोडना है । (२) निश्चयनय का पक्ष (विकल्प मात्र छोडना है । लेकिन (३) निश्चनय के विषयभूत अर्थ को ग्रहण करना है । यह कैसे कहोगे, तो देखिये जैनेंद्र सिध्दान्त कोश भाग - २, पृष्ठ ५६५.

" यथा सम्यग्व्यवहारेण मिथ्याव्यवहारी निवर्तते तथा निश्चयेन व्यवहारविकल्पोऽपि निवर्तते । तथा निश्चयेन व्यवहारविकल्पेऽपि निवर्तते तथा स्वपर्यवसित भावनैकविकल्पोऽपि निवर्तते । एवंहि जीवस्य योऽसौ स्वपर्यवसितस्वभाव स एव नयपक्षातीतः । "

अर्थ-जिस प्रकार सम्यक् व्यवहार से मिथ्या व्यवहार की निवृत्ति होती है; उसी प्रकार निश्चयनय से व्यवहार के विकल्पों की भी निवृत्ति हो जाती है । जिस प्रकार निश्चयनय से व्यव्हार के विकल्पों की निवृत्ति होती है; उसी प्रकार स्वपर्यवसितभाव से एकत्व का विकल्प (निश्चयनय से ' आत्मा एक है, शुध्द है, ऐसा विकल्प) भी निवृत्त हो जाता है । इस प्रकार जीव का स्वपर्यवसित (अनुभवगम्य) स्वभाव ही नयपक्षातीत है ।

श्री देवसेनाचार्यजी नयचक्र में लिखते हैं कि -

" निश्चयनयस्त्वेकत्वे समुपनीय, ज्ञानचैतन्ये संस्थाप्य परमानंदं समुत्पाद्य वीतरागं कृत्वा स्वयं निवर्तमानो नयपक्षातिक्रांतं करोति तमिति पूज्यतमः । "

निश्चयनय एकत्व में समुपनीय (ले जाकर) ज्ञानचैतन्य में संस्थापित कर के परमानंद को समुपाद्य (प्राप्त करके), वीतराग करके स्वयं (स्वतः) निवृत्त हो जाता है । इस प्रकार वह नयपक्षातिक्रांत करता है (इस प्रकार जीव को नयपक्ष से अतीत कर देता है) । इसलिये निचयनय पूज्यतम है ।

इसलिये यह सिध्द हुआ कि जो जीव बुध्दिपूर्वक निश्चयनय का आश्रय करता (चिंतवन करता) है, वह पक्षातिक्रांत (विकल्पातीत) होता है । इस के पहले भी अनेक बार यह सिध्द किया जा चुका है, वह पीछे के पृष्ठों पर से देख लेना ।

श्री अमृतचंद्राचार्यजी समयसार कलश नं. १२२ में कहते हैं -

" इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुध्दनयो न हि ।
नास्ति बंधस्तदत्यागात् तत्त्यागाद्बंध एव हि ।। १२२ ।। "

अर्थ - यहाँ यही तात्पर्य है कि शुध्दनय त्यागने योग्य नहीं है, क्योंकि शुध्दनय (निश्चयनय) के अत्याग से (निश्चयनय का त्याग न करनेसे) बंध नहीं होता और शुध्दनय का (निश्चयनय का) त्याग करने से बंध होता है ।

श्री समयसार गाथा - १७३ से १७६ तक

' सव्वे पुव्वणिबध्दा दु पच्चया संति सम्मदिट्ठिस्स'

इत्यादि पांच गाथाओंकी टीका में श्री जयसेनाचार्यजी लिखते हैं कि -

' एतेन कारणेन सम्यग्दष्टिरबंधको भणित इति । किं च विस्तरः मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया चतुर्थगुणस्थाने सरागंसम्यग्दष्टिः त्रिचत्वारिंशत् -

प्रकृतीनां अबंधकः । सप्ताधिकसप्तति प्रकृतीनां अल्पस्थित्यनुभागरूपाणां बंधकोऽपि संसारस्थितिच्छेदं करोतिः '

अर्थ - इस कारणसे सम्यग्दृष्टि (चतुर्थादि गुणस्थानवाले) जीव अबंधक कहे गये हैं ।

इसका विशेष कथन यह है कि - \

चतुर्थस्थानगुणवाले जीव अबंधक हैं, क्योंकि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से चतुर्थ गुणस्थान में अविरत सम्यग्दृष्टि ४३ प्रकृतियों का अबंधक है। ७७ प्रकृतियोंकी अल्प स्थिति, अनुभाग का बंधन है तो भी संसारस्थितिच्छेद करता है, इसलिये अबंधक है ।

उसी टीका में आगे लिखते हैं कि -

आगमभाषा (व्यवहार)	अध्यात्मभाषा (निश्चय)
१) तत्र द्वादशांगश्रुतविषये अवगमो ज्ञानं व्यवहारेण बहिर्विषयः। वहाँ द्वादशांगश्रुतविषय का अवगम ज्ञान व्यवहारनय से बहिर्विषयका ज्ञान है (याने जीवादि द्रव्य,तत्त्व, पदार्थ इत्यादि का ज्ञान, अवगम है ।)	**१)निश्चयेन तु वीतराग स्वसंवेदनलक्षणं चेति ।** निश्चयनय से वीतराग स्वसंवेदन लक्षणवाला ज्ञान (याने अपने निजशुध्दात्म स्वभावकी पारिणामिकभाव की अनुभूतिवाला ज्ञान) अवगम है ।
२) भक्तिः पुनः सम्यक्त्वं भण्यते व्यवहारेण सरागसम्यग्दृष्टिनां पंचपरमेष्ठ्याराधनारूपा । भक्तिको सम्यक्त्व कहते हैं । पंचपरमेष्ठि की आराधना करना भक्ति है याने सम्यक्त्व है । यह चतुर्थादि गुणस्थान में होनेवाली श्रध्दा व्यवहारनय से सम्यक्त्व है ।	**२) निश्चयेन वीतरागसम्यग्दृष्टीनां शुध्दात्मतत्त्वभावनारूपा चेति ।** (भक्ति को सम्यक्त्व कहते हैं उसी को अध्यात्मभाषासे) चतुर्थादि गुणस्थान में वीतराग सम्यक्त्व (स्वानुभूति- निश्चय सम्यक्त्व) वाले स्वशुध्दात्मस्वभाव की भावना (अपने पारिणामिक-भाव की अनुभूति) कहते हैं, वह सम्यक्त्व है ।

देखो समयसार गाथा नं. १७७ , १७८

' राग दोसो मोहो य आसवा णत्थि समदिट्ठिस्स ।' इत्यादि की टीका में श्री जयसेनाचार्य जी लिखते हैं -

रागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेर्न भवन्ति, सम्यग्दृष्टित्वान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः । तथाहि , अनंतानुबंधिक्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वोदयजनिता रागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेर्न सन्तीति पक्षः । कस्मात् ? इति चेत् केवलज्ञानाद्यनंतगुणसहितपरमात्मोपादेयतत्वे सति वीतराग सर्वज्ञप्रणीत षट्द्रव्यपंचास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थरूपस्य मूढत्रयादिपंचविंशति दोषरहितस्य '' संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरुहा या उवसमो भत्ती । वच्छलं अणुकंपा गुणट्ठ सम्मत्तस्स ।' इति गाथाकथितलक्षणस्य चतुर्थगुणस्थान-वर्तिसरागसम्यक्त्वस्य अन्यथानुपत्तेरिति हेतुः ।

अर्थ - चतुर्थादि गुणस्थान वाले सम्यग्दृष्टि जीव को राग - द्वेष - मोह नहीं होते हैं, क्यों कि राग-द्वेष, मोह भावों के होने पर सम्यग्दृष्टिपना प्राप्त नहीं होता।

इसको स्पष्ट कर बतला रहे हैं - चतुर्थ गुणस्थान वाले सम्यग्दृष्टि जीव के अनंतानुबंधी क्रोध-मान-माया लोभ और मिथ्यात्व के उदय में होने वाले राग-द्वेष-मोह भाव नहीं होते (यह पक्ष है।) क्यों कि -

अध्यात्म भाषा से	आगम भाषा से
केवलज्ञानादि अनंतगुणों सहित स्वस्वभावमय परमात्मा को (याने अपने निजशुद्धात्मपारिणामिक भाव को) उपादेय करके स्वानुभवसहित ही चतुर्थगुणस्थान वाले का सम्यक्त्व है। स्वानुभूति से (शुद्धोपयोग) से रहित चतुर्थ गुणस्थानवाले को सम्यक्त्व नहीं रहता। यह कारण है।	वीतरागसर्वज्ञ , छह द्रव्य , पांच अस्तिकाय, सात तत्त्व, नव पदार्थ की रूचिरूप और मूढत्रयादि पच्चीस दोषरहित और संवेग, निर्वेद, निंदा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकंपा - इन आठ गुणोंसहित ही चतुर्थ गुणस्थान वाले का सम्यक्त्व है। इनसे रहित चतुर्थ गुणस्थान वाले को सम्यक्त्व नहीं रहता; यह कारण है।

इससे यह अच्छी तरह सिध्द होता है कि स्वानुभूति से ही चतुर्थ गुणस्थान (अव्रतीसम्यक्त्व गुणस्थान) प्रगट होता है; अन्यथा अनुपपत्ति है ।

जो बाह्यतः सर्वज्ञकथित ६ द्रव्य, ५ अस्तिकाय, ७ तत्त्व इत्यादि को ही सम्यक्त्व मानते हैं और स्वानुभूतिको नकार देते हैं, वे मिथ्यात्वी (प्रथम गुणस्थानवर्ती) हैं ।[१]

२४) शंका - मो.पा. टी. २।३०५

ये गृहस्था अपि सन्तो मनाग् आत्मभावनां आसाद्य वयं ध्यानिनाः इति ब्रुवते ते जिनधर्मविराधकायाः मिथ्यादृष्टयः ज्ञातव्याः ।

इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर - जो गृहस्थ होते हुए भी जघन्य आत्मभावना (स्वात्मानुभूति) प्राप्त करके अपने को ' हम सप्तमादि गुणस्थानवर्ती ध्यानी हैं, ऐसा कहते हैं वे जिनधर्मविराधक मिथ्यादृष्टि हैं, ऐसा जानो ।

इससे जो अव्रती गृहस्थ में जघन्य आत्मभावना (स्वात्मानुभूति) मानते हैं और अन्यों की याने देशव्रती सम्यक्त्वी की मध्यम स्वात्मानुभूति और भावलिंगी संयमी की सप्तमादि गुणस्थानक्रम से उत्कृष्ट, उत्कृष्टतर, उत्कृष्टतम स्वात्मानुभूति मानते हैं, वे मिथ्यात्वी नहीं हैं (याने वे अव्रती गृहस्थ भी निश्चय सम्यक्त्वी हैं) । याने जाति अपेक्षासे चतुर्थादिगुणस्थानवर्तियों की स्वानुभूति समान है ।

२५) शंका - मो.पा.टी. २ । ३०५ । ९ (भावसंग्रह-देवसेन सूरिकृत - ३७१ - ३९७ -६०५)

टीप -१ नियमसार गाथा नं. १४४, १४५
समयसार गाथा नं १५२, १५३, २७४, २७५
प्रवचनसार गाथा नं. ७९

232762040

" मुनीनामेव परमात्मध्यानं घटते । तप्तलोहगोलकसमानगृहिणां परमात्मध्यानं न संगच्छते । "

इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर - मुनियों के ही परम (उत्कृष्ट- सप्तमादि गुणस्थानवर्तियों का उत्कृष्ट-उत्कृष्टतर-उत्कृष्टतम) आत्मध्यान (स्वात्मानुभव) होता है । तप्तलोह के गोले के समान गृहस्थोंको परम (उत्कृष्ट सप्तमादि गुणस्थानवर्तियों का उत्कृष्ट-उत्कृष्टतर-उत्कृष्टतम) आत्मध्यान (स्वानुभव) नहीं होता ।

इससे जो-जो अव्रती गृहस्थको पारिणामिकभावरूप अपने आत्मा का ध्यान (जघन्य स्वात्मानुभव) होता है, इस में बाधा नहीं आती ।

२६) शंका - भा.पा.टी. ८१ । २३२ । २४

क्षोभः परीषहोपसर्गनिपाते चित्तस्य चलनता ताभ्यां विहीनो रहितः मोहक्षोभविहीनः । एवं गुणविशिष्ट-आत्मानःशुध्दबुध्दैकस्वभावस्य चिच्चमत्कारलक्षणश्चिदानन्दरूपः परिणामो इत्युच्यते । स परिणामो गृहस्थानां न भवति । पञ्चसूनासहितत्वात् ।

इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर - परिषह और उपसर्ग के आने पर चित्त का चलना क्षोभ है । उससे रहित मोहक्षोभविहीन है । ऐसे गुणों से विशिष्ट शुध्दबुध्द एकस्वभावी आत्मा का चिच्चमत्कारलक्षण चिदानन्द परिणाम धर्म कहलाता है । पंचसूना-दोष सहित होने के कारण वह परिणाम (उत्कृष्ट परिणाम) गृहस्थोंको नही होता ।

इसमें यह दिखाया है कि उत्कृष्ट धर्मध्यान (सकलसंयमी का धर्मध्यान) और शुक्लध्यान, अव्रती गृहस्थ को नहीं होता; लेकिन जघन्य धर्मध्यान (अपने निजात्मस्वभाव का चिंतवन- स्वानुभव) अव्रती गृहस्थ को होता है ।

देखो बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा नं. ३४ की टीका (अथवा प्रवचनसार गाथा नं. १८१ की टीका- तात्पर्यवृत्ति)

" तत्राशुध्दनिश्चये शुध्दोपयोग कथं घटते इति चेत् तत्र उत्तरम्-शुध्दोपयोगे शुध्दबुध्दैकस्वभावो निजात्माध्येयस्तिष्ठति तेन कारणेन शुध्दध्येयत्वात् शुध्दावलम्बनत्वात्, शुध्दात्मस्वरूपसाधकत्वात् च शुध्दोपयोगो घटते।स च संवरशब्दवाच्यः शुध्दोपयोगः संसारकारणभूतमिथ्यात्वरागाद्यशुध्दपर्यायवदशुध्दो न भवति, फलभूतकेवलज्ञानपर्यायवत् शुध्दोऽपि न भवति किंतु ताभ्यामशुध्दशुध्दपर्यायाभ्यां विलक्षणं एकदेशनिरावरणं च तृतीयमवस्थान्तरं भण्यते। "

अर्थ - प्रश्न - अशुध्द निश्चय में शुध्दोपयोग कैसे घटित होता है ?

उसका उत्तर देते हैं कि -

शुध्दोयोग में शुध्दबुध्द एक स्वभाव निजात्मा ध्येय (ध्यान करने योग्य विषय) है। इस कारण से ध्यान का विषय शुध्द होनेसे, शुध्द अवलम्बन होने से और शुध्दात्मस्वरूप का साधक होनेसे **शुध्दोपयोग सिध्द** होता है। संवर शब्द का वाच्य (संवर शब्दके द्वारा कहा जानेवाला) वह शुध्दोपयोग मिथ्यात्वरागादि अशुध्दपर्याय के समान अशुध्द नहीं होता और केवलज्ञानपर्याय के समान पूर्ण शुध्द नहीं होता है; किन्तु अशुध्दपर्याय (मिथ्यात्व सासादान मिश्र गुणस्थानवर्ती अशुध्दपर्याय) और पूर्ण शुध्दपर्याय (अर्हंत पर्याय अथवा सिध्द पर्याय) इन दो पर्यायोंसे विलक्षण (भिन्न) एकदेश निरावरण तृतीय अवस्थान्तर कही जाती है।

इसलिये अविरत सम्यक्त्वी में और देशविरत सम्यक्त्वी में और धर्मध्यानवाले भावलिंगी सकलसंयमी में भी शुध्दोपयोग है। उस शुध्दोपयोगसे (शुध्दात्मानुभूतिसे) प्रथमोपशम सम्यक्त्व अव्रती गृहस्थ में प्रगट होता है। देखो पृष्ठ नं. ६

याने जाति अपेक्षासे अविरत सम्यक्त्वी में, देशविरत सम्यक्त्वी में और भावलिंगी - सकलसंयमी में शुध्दात्मानुभव (शुध्दोपयोग) समान है। और मिथ्यात्व सासादान-मिश्रगुणस्थानों में अशुध्दोपयोग है।

- समाप्त -

कोष्टक

आगम भाषा			आध्यात्मभाषा	फल	
क	द्रव्य	पर्याय	शुद्धात्मानुभूति के लिये आश्रय करने योग्य 'स्वद्रव्य' सकलादेशी	समीचीन	सम्यक्त्वी
ख	द्रव्य	पर्याय	शुद्धात्मानुभूति के लिये आश्रय करने योग्य पर्याय अथवा अन्यद्रव्य	असमीचीन अथवा व्यवहाराभासी	मिथ्यात्वी
ग	द्रव्य	०	शुद्धात्मानुभूति के लिये आश्रय करने योग्य 'द्रव्य'	निश्चयाभासी	मिथ्यात्वी
घ	०	पर्याय	शुद्धात्मानुभूति के लिये आश्रय करने योग्य 'पर्याय'	व्यवहाराभासी	मिथ्यात्वी
च	द्रव्य	पर्याय	शुद्धात्मानुभूति के लिये आश्रय करने योग्य निरपेक्ष 'द्रव्य पर्याय'	असमीचीन (उभयाभासी)	मिथ्यात्वी
छ	०	०	शुद्धात्मानुभूति के लिये आश्रय करने योग्य 'द्रव्य'	असमीचीन (अंधश्रद्धा)	मिथ्यात्वी
ज	०	०	शुद्धात्मानुभूति के लिये आश्रय करने योग्य 'पर्याय'	असमीचीन	मिथ्यात्वी
झ	द्रव्य	पर्याय	शुद्धात्मानुभूति के लिये आश्रय करने योग्य 'स्वद्रव्य' विकलादेशी	असमीचीन	मिथ्यात्वी
ट	पर्याय निरपेक्ष द्रव्य	द्रव्य निरपेक्ष पर्याय	शुद्धात्मानुभूति के लिये आश्रय करने योग्य 'स्वद्रव्य'	असमीचीन	मिथ्यात्वी
ठ	पर्याय निरपेक्ष द्रव्य	द्रव्य निरपेक्ष पर्याय	शुद्धात्मानुभूति के लिये आश्रय करने योग्य 'पर्याय' अथवा अन्य 'द्रव्य'	असमीचीन	मिथ्यात्वी
ड	पर्याय निरपेक्ष द्रव्य	द्रव्य निरपेक्ष पर्याय	शुद्धात्मानुभूति के लिये आश्रय करने योग्य निरपेक्ष 'स्वद्रव्य और पर्याय'	असमीचीन	मिथ्यात्वी

संक्षेप में कोष्टक का स्पष्टीकरण -

क) परस्परसापेक्ष द्रव्यपर्यायात्मक जीवादि पदार्थ है, ऐसा आगमभाषासे जानकर, अध्यात्मभाषा से शुद्धात्मानुभूति के लिये स्वद्रव्य का सकलादेशी दृष्टि से आश्रय करता है (अर्थात निश्चयनय के विषय का आश्रय करता है) वह समीचीन जानता है; और शुद्धात्मानुभूति होने से वह सम्यक्त्वी होता है। इस के लिये आधार संपूर्ण जिनवाणी है, उदा. कुछ आधार-समयसार गाथा १३,१४,१५ और ११, और उनकी आत्मख्याति संस्कृत टीका.

ख) परस्परसापेक्ष द्रव्यपर्यायात्मक जीवादि पदार्थ है ऐसा आगमभाषा से जानकर, अध्यात्मभाषा से शुद्धात्मानुभूति के लिये अपनी खुद की अशुद्धपर्याय अथवा भाविकालीन शुद्धपर्याय अथवा अन्यद्रव्य (याने पंचपरमेष्ठी इत्यादिका) आश्रय करता है, वह असमीचीन जानता है, परसमय में रत है इसलिये मिथ्यात्वी है। उदाहरण के लिये कुछ आधार प्रवचनसार गाथा नं. ७९, पंचास्तिकाय संग्रह गाथा नं. १६६, नियमसार गाथा नं. १४४ इत्यादि.

ग) जीवादि पदार्थ को सर्वथा द्रव्यमय और पर्यायरहित मानता है, और अध्यात्मभाषा से शुद्धात्मानुभूति के लिये द्रव्यका आश्रय करता है। यहाँ क्रमांक 'क' के समान द्रव्य का चिंतवन करता है तो भी आगमभाषा का यथोचित ज्ञान नहीं है इसलिये निश्चयाभासी है, मिथ्यात्वी है। उदाहरण के लिये आधार - अष्टसहस्त्री पृष्ठ २७ -

" निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत् शशविषाणवत् "

घ) जीवादि पदार्थ को आगमभाषा से द्रव्यरहित और सर्वथा पर्यायमय मानता है, और अध्यात्मभाषा से शुद्धात्मानुभूति के लिये पर्याय का आश्रय करता है, वह जीव व्यवहाराभासी है, मिथ्यात्वी है। उदाहरण के लिये आधार - अष्टसहस्त्री पृष्ठ नं. २७

" निर्विशेषं हि सामान्यं भवेच्छशविषाणवत्।
सामन्यरहितत्त्वाच्च विशेषस्तद्वदेव हि ॥ "

च) परस्पर सापेक्ष द्रव्य-पर्यायात्मक जीवादि पदार्थ हैं, ऐसा आगमभाषा से जानकर, आध्यात्मभाषा से शुद्धात्मानुभूति के लिये ' स्वद्रव्य पर्याय का ' आश्रय करता है, वह उभयाभासी है, मिथ्यात्वी है। उदाहरण के लिये आधार-समयसार गाथा नं. १४२ की आत्मख्याति टीका, '' **यः पुनः जीवे बद्धमं च कर्म इति विकल्पयति स तु तं द्वितीयं अपि पक्षं अनतिक्रामन् न विकल्पं अतिक्रामति।** जो स्वानुभूति के लिये द्रव्य और पर्याय का आश्रय करता है याने निश्चय और व्यवहारका आश्रय हो जाने से वह द्वैत में ही (विशेष में ही) आ जाता है इसलिये मिथ्यात्वी है।

छ) जो जीव आगमभाषा से जीवादि पदार्थों की जानकारी प्राप्त न करके; अध्यात्मभाषा से स्वद्रव्य का सकलादेशी चिंतवन करने योग्य है, ऐसा मानता है (अर्थात् निश्चयनय के विषय का आश्रय करता है) वह असमीचीन है, मिथ्यात्वी है।

इसके लिये आधार- जयधवला भाग - १, पृष्ठ ६

'' **जुत्तिविरहियगुरुवयणादो पयट्टमाणस्स पमाणाणुसारित्तविरोहादो** ''।

अर्थ - जो शिष्य युक्ति की अपेक्षा किए बिना, मात्र गुरुवचन के अनुसार प्रवृत्ति करता है, वह प्रमाणानुसारी मानने में विरोध आता है।

ज) जो जीव आगमभाषा से जीवादि पदार्थों की जानकारी प्राप्त न करके, अध्यात्मभाषा से शुध्दात्मानुभूति के लिये ' पर्याय' (व्यवहार नयका विषय आश्रय कनने योग्य है,ऐसा मानता है वह असमीचीन है, मिथ्यात्वी है।

झ) परस्परसापेक्ष द्रव्यपर्यायात्मक जीवादि पदार्थ हैं ऐसा आगमभाषा से जानकर अध्यात्म भाषा से शुध्दात्मानुभूति के लिये स्वद्रव्य का विकलादेशी दृष्टि से आश्रय करता है, अर्थात् सद्भूत व्यवहारनय के विषय का आश्रय करता है, वह असमीचीन है, मिथ्यात्वी है। समयसार गाथा नं. ३२० (आत्मख्याति) की तात्पर्यवृत्ति में श्री जयसेनाचार्यजी लिखते हैं ....

" ध्याता पुरुषः यदेव सकलनिरावरणं अखंडैकप्रतिभासमयं अविनश्वरं शुध्दपारिणामिकपरमभावलक्षणं निजपरमात्म्यद्रव्यं तदेव अहं इति भावयति, न खंडज्ञानरूपं इति भावार्थः । "

ट) परस्पर निरपेक्ष द्रव्य-पर्यायात्मक जीवादि पदार्थ हैं, ऐसा आगमभाषा से जानकर, अध्यात्मभाषा से शुध्दात्मानुभूति के लिये आश्रय करने योग्य 'स्वद्रव्य ' है, ऐसी मान्यता असमीचीन है। वह जीव मिथ्यात्वी है। इसकी आगमभाषा में गलत मान्यता है, क्योंकि, आप्तमीमांसा में कहा है -

"मिथ्यासमूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्ततास्ति नः ।
निरपेक्ष नयाः मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽथकृत् ।। १०८ ।।

ठ) परस्पर निरपेक्ष द्रव्य-पर्यायात्मक जीवादि पदार्थ हैं, ऐसा आगमभाषा से जानकर, अधयात्मभाषा से शुध्दात्मानुभूति के लिये आश्रय करने योग्य ' पर्याय अथवा अन्य द्रव्य ' है, ऐसी मान्यता असमीचीन है। वह जीव मिथ्यात्वी है। इसके लिये आधार आप्तमीमांसा श्लोक नं. १०८ और उसकी अष्टसहस्त्री संस्कृत टीका और समयसार गाथा नं. ११ ।

ड) परस्पर निरपेक्ष द्रव्य-पर्यायात्मक जीवादि पदार्थ हैं, ऐसा आगमभाषा से जानकर , अध्यात्मभाषा से शुध्दात्मानुभूति के लिये आश्रय करने योग्य ' स्वद्रव्य पर्याय ' है, ऐसी मान्यता असमीचीन है। वह जीव मिथ्यात्वी है। इसके लिये आधार-आप्तमीमांसा श्लोक नं. १०८, समयसार गाथा नं. ११ ।

इससे सिध्द होता है कि क्रमांक नंबर 'क' ही समीचीन है।

परिशिष्ट

श्री. क्षु. धर्मदास विरचित स्व जीवन वृत्तान्त
(' स्वात्मानुभव मनन ' की ' प्रस्तावना ')

" मैका सरीरकूं क्षुल्लक ब्रम्हचारी धर्मदास कहनेवाला कहता है सो ही मैं मेरी स्वात्मानुभव की प्राप्त प्राप्ती भई सो प्रगट कर्ता हूँ। मैं के द्वारा मेरा सरीर का जनम तो सवाई जयपूर का राज में जीला सवाई माधोपूर तालुका बोलीगांव बपूई का है। खंडेलवाल श्रावग गोत्र गिरधरवाल चुडीबाल तथा गधिया का कुल में मेरो सरीर उपज्यो है। मेरा सरीर का पिता का नाम श्रीलालजी थो अर मेरी माता को नाम ज्वालाबाई थो अर मेरा सरीर को नाम धनालाल थो। अब मेरा सरीर को नाम क्षुल्लक ब्रम्हचारी धर्मदास है। अनुक्रम से मेरे सरीर को वय जब २० वर्ष की हुई तब कारण पायकरिके मैं झालरा पाटण आयो तहां जैनका मुनी नगन श्री सिध्दश्रेणिजी ताको मैं शिष्य हुवो। स्चामी मैं कूं लौकीक वर्तनेम दीया सो ही मैं संवत् १९२२ औगणीसे बाईसका संवत्‌मैं १९३५ का साल पर्यंत कायक्लेस तप किया।

भावार्थ- १३ (तेरा) वर्ष के भीतर मैं २००० (दोय सहस्त्र) तो निर्जल उपवास किया। दो च्यार जैंन मंदिर बणाया। प्रतिष्ठा कराई बहुरि समेदशिखर गिरनार आदि जैन का तीर्थ कीया। और बी भूसयन पठन - पाठ

मंत्रादिक बहुत किया। ताकी कैं मेरा अंतःकरण मैं अभिमान अहंकाररूपी सर्प का जहर व्याप्त हो गया था तिस कारणतैं मैं मेरे कूं भला मानतो थो अन्यकूं झूठा, पोटा (खोटा), बुरा मानतो थो। उसी बहिरात्मदिसा मैं मैंकूं तेरापंथी श्रावग दिल्ली अलिगढ कोयल आदि बडे सहरों में मेरा पांव में प्रणम्य नमस्कार पूजा करते थे इस कारण सैं बी मेरा अंतःकरण मैं अभिमान अज्ञान ऐसा था के मैं भला हूँ श्रेष्ठ हूं अर्थात् उस समय यह मोकूं निश्चय नहीं थी के निंदा स्तुति पूजा देह की अर नाम की है। बहुरि मैं भ्रमण करतो बराड देश में अमरावती शहर है वहाँ गया थो। तहाँ चातुर्मास में रहयो थो। तहां श्रावगमंडली कूं उपदेश द्वेष का देतो थो। अमुकां भला है अमुकां षोटा (खोटा) है इत्यादिक उपदेस समयकूं जलालसंगी मैंकू कही के आप किसकूँ भला बुरा कहते हो जाणते हो मानते हो। सर्व वस्तु आपणा आपणा स्वभावकूँ लीया हुवा स्वभाव में जैसी है तैसी ही है। प्रथम आप आपणकूँ समजो। इस प्रमाण कूं जलालसंगी मैं कूं कही तो बी मेरी मेरे भीतर स्वानुभव अंतरात्मद्रष्टी न भई। कारण पायकरि कै सहर कारंजा के पटाधीश श्रीमत् देवेन्द्रकीर्तिजी भट्टारकमहाराज सैं मैं मिल्यो। महाराज का सरीर की वयवृध्दि ९५ पच्याणवै वर्षकी स्वामी मैं सैं कही तुमकूं सिध्द पूजापाठ आता है के नहीं आता है। तब मैं कही मैं कूं आता है। तब स्वामी बोले के सिध्द की जयमाला को अंतको श्लोक पढो, तब मैं अंतको श्लोक -

विवर्ण विगंध विमान विलोभ विमाय विकाय विशब्द विसोक

अनाकुल केवल सर्व विमोह प्रसिध्द विशुध्द सुसिध्द समूह ॥ १ ॥

तब श्रीगुरू मैकूं कही के स्वयंसिध्द परमात्मा तो कालो पीलो लाल हर्‍यो सुपेदादिक वर्ण रहित है; सुगंध दुर्गंध रहित है; क्रोध मान माया लोभ रहित है; पंच प्रकार सरीर रहित है तथा छकाया रहित है; शब्द द्वारा भाष होता है: सर्व आकूलता रहित है; सर्व ठिकाणे विशुध्द प्रसिध्द प्रगट है। देखो-देखो तुमकूं वो परमात्मा दीखता है के नहीं दीखता है। तब मैं स्वामीका श्रीमुख सैं

श्रवण करिकै चकितचित्त हो गयो । स्वामी तो मैं के नगीच सैं उठकरि भीतर जैन मंदिर में चले गये अर मैं मेरा मन में बहुत बिचार कीया । वो प्रसिध्द सिध्द परमात्मा मैंकूं कोई टिकाणे कोई द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भाव मैं दीख्या नहीं । मैं विचार कीया के कालो पीलो लाल हरयो धोलो काया छायासे अलग है तो बी प्रसिध्द सिध्द प्रगट है अर मैं तो जिधर देखता हूँ उधर वर्ण रंग कायादिक ही दीखता है । वो प्रसिध्द सिध्द प्रगट है तो मैं कूं क्युं नहीं दीखता इत्यादि विचार बहूत कीया बाद पश्चात् स्वामीसैं मैं कही-हे कृपानाथ वो प्रसिध्द सिध्द प्रगट है सो तो मैं कूं दीखता है नहीं । तब स्वामी बोले-ज्यो अंधा होता है उसकूं नहीं दीखता है । मैं फेर स्वामीसैं प्रश्न नहीं कीयो, चुपचाप रह्यो; परंतु जैसे स्वान के मस्तग मैं कीट पड जावै तैसे मैं का मस्तग मैं भ्रांति सी पड गई । उस भ्रांति चुकत मैं ज्येष्ठ महिनों में समेद सिखर गयो तहां बी पहाड के उपर नीचै बन में उस प्रसिध्द सिध्द परमात्माकूं देखणे लग्यो । तीन दिवस पर्यंत देख्यो, परंतु वहाँ बी वो प्रसिध्द सिध्द दीख्यो नहीं । बहुरि पीछो पलट करिकैं १० (दस) महिना पश्चात् देवेंद्रकीर्ति स्वामी के समीप आयो। स्वामीसैं वीनती करी-हे प्रभु वो प्रसिध्द सिध्द परमात्मा प्रगट है तो मै कूं दीखतो नहीं आप कृपा करिकैं दीखावो । तब स्वामी बोले - सर्वकूं देखता है ताकूं देख तू ही है । ऐसे स्वामी मैंका कर्ण में कही । तत् समय मेरी मेरे भीतर अंतरात्म अंतरद्रष्टी हो गई सो ही मैं इस ग्रंथ में प्रगटपणे कही है । जैसो-जैसो पीवै पाणी, तैसे-तैसो बोले वाणी । इसी दृष्टान्त द्वारा निश्चय समजणा । मेरा अंतःकरण मैं साक्षात् परमात्मा जागती ज्योति अचल तिष्ठ गई। उसी प्रमाण की मैं वाणी इस पुस्तक मैं लिखी है । अब कोई मुमुक्षुकूं जन्म मरण के दुःख से छूटणे की इच्छा होय तथा जागती ज्योति परंब्रम्ह परमात्मा को साक्षात् स्वानुभव लेना होय सो मुमुक्षु विषय मोटा पाप अपराध सप्त विषयन छोडकरिकै इस पुस्तक के एकांत में बैठकरि कैं मन को मन में मनन करो वांचो पढो । “ परमात्मा प्रकासादिक ” ग्रंथसैंभी इस में स्वानुभव होणे

की सुगमता है। खोटी करणी खोटा कर्म तो छोडणाजोग ही है; परंतु इस ग्रंथकूं पढणेवाला मुमुक्षुकूं कहता हुं के जैसे तुम खोटी करणी खोटा कर्म छोड दिया तैसे सुभ भला कर्म भली करणी भी छोडकरिकै इस पुस्तककूं बांचणा। एकांत में यह पुस्तक अपणो आपही के संबोधनै को है परकूं संबोधनको मुख्य नहीं। कदाचित् कोई प्रकार है समज लेणा समजाणा, बिना समज सैं नहीं बोलणा। नहीं कहणा। जरूर इस ग्रंथके पढणेसैं मनन करणेसें मुमुक्षुकूं स्वानुभव अंतरदृष्टि होवैगी। संसार जगत् में जिसकूं स्वानुभव आत्मज्ञान नहीं वा ब्रम्हज्ञान नहीं उसका व्रत जप तप नेम तीर्थयात्रा दान पूजादिक है सो ब्रम्हज्ञानाग्नी विना सर्व कच्चा है। जैसे रसोई में आटा दाल चनादिक चावल बीजनादिक हैं परंतु अग्नी विना सर्व कच्चा है। तैसेही आत्मज्ञान विना मुनीपणा क्षुल्लकपणा आदि सर्व कच्चा है। वास्तै हे मुमुक्षुजन वो स्वात्मानुभवकी प्राप्त की प्राप्ती के अर्थ इस ग्रंथकूं अर एकांत में अपणे मनको मन में मनन करणा-पढणा बांचणा।"

॥ ॐ ॥ **चार्ट क्र. ३**

	अनुभाव्य	अनुभव	फल
क्र	विषय (भोग्य)	विषयि	जाननेका फल
मां	ध्येय	ध्यान	ध्यानका फल
क	ज्ञेय	ज्ञान (विचार)	ज्ञान का फल
	प्रमेय	प्रमाण	प्रमिति
१)	जिध्रुव ज्ञानानंद	निजध्रुव ज्ञानानंद स्वभाव	अतीन्द्रिय आनंद उपेक्षा (समभाव) सम्यग्दर्शन वीतराग
२)	अशुद्धपर्याय	अशुद्धपर्याय	मिथ्यात्व, सराग विषमभाव
३)	एकदेशशुद्धपर्याय	एकदेशशुद्धपर्याय	मिथ्यात्व, सराग विषमभाव
४)	पुर्णशुद्धपर्याय (केवलज्ञानपर्याय)	पुर्णशुद्धपर्याय (केवलज्ञानपर्याय)	मिथ्यात्व, सराग विषमभाव
५)	धन	धन	मिथ्यात्व, सराग विषमभाव
६)	शरीर	शरीर	मिथ्यात्व, सराग विषमभाव
७)	ठंडास्पर्श	ठंडास्पर्श	मिथ्यात्व, सराग विषमभाव
८)	मीठारस	मीठीरस	मिथ्यात्व, सराग विषमभाव
९)	सुगंध	सुगंध	मिथ्यात्व, सराग .विषमभाव
१०)	नीलवर्ण	नीलवर्ण	मिथ्यात्व, सराग विषमभाव
११)	ध्वनि-शब्द	ध्वनि - शब्द	मिथ्यात्व, सराग विषमभाव

अनिष्ट (हान) इष्ट (उपादान)

परमदव्मादो दुग्गई सद्दव्वादो हु सुग्गई हवई ।
इय णाउण सदव्वे कुणह रई विरह इयरम्मि ॥ १६ ॥ मोक्षप्राभृत

परद्रव्यसे दुर्गती और स्वद्रव्यसे सुगती है, ऐसा जानकर स्वद्रव्यमें रति करो और परद्रव्यमे विरती करो ।

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावं ति भणियमण्णेसु ।
परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये ॥ १८१ ॥ प्रवचनसार

परके प्रती (तुसरोंके बारे में) शुभपरिणाम पुण्य है और परके प्रति (दसुरोंके बारे में) अशुभपरिणाम पाप है । और जो परिणाम उसी समय दुःखक्षयका (संवरपुर्वक निर्जराका-शुद्धात्मानुभतिका परमानंदका निरांकुलताका) कारण है, ऐसा कहते हैं ।

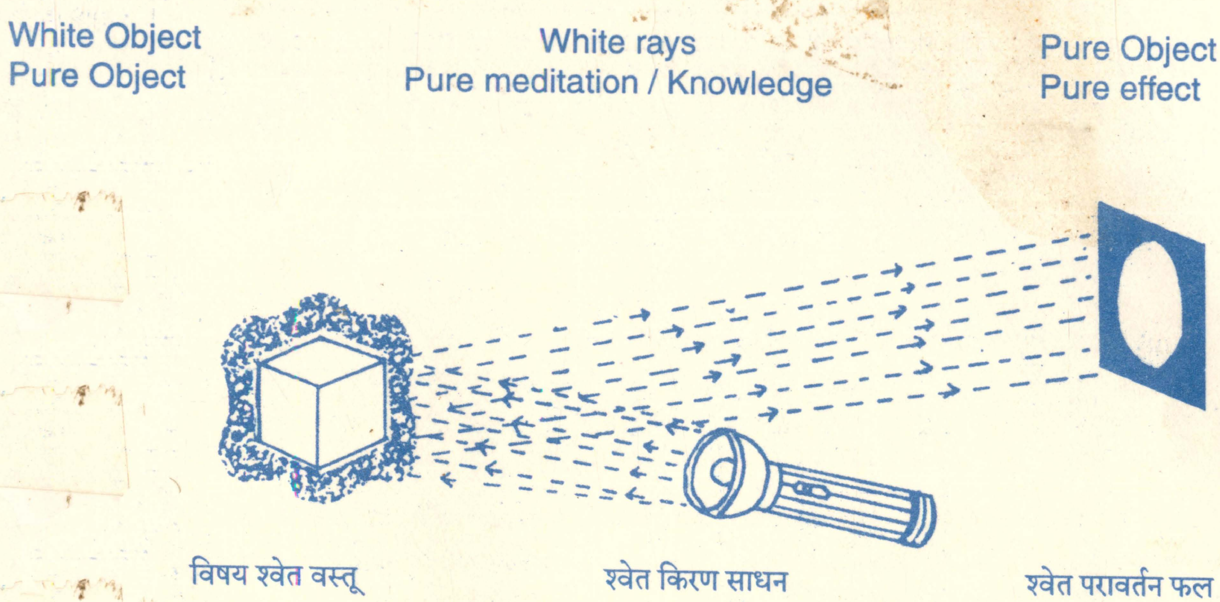

Pure Object plus Pure instrument gives Pure effect